स्वामी श्रद्धानन्द जी

मेरे पिता : संस्मरण

लेखक
इन्द्र विद्यावाचस्पति

सम्वत् २०१३

प्रकाशक :
वाचस्पति पुस्तक-भण्डार,
जवाहर नगर, दिल्ली ।

मूल्य—चार रुपया ।
सन् १९५७ ।
प्रथम वार १००० ।

मुद्रक :
श्री रामेश बेदी,
गुरुकुल मुद्रणालय,
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार ।

मेरा अभिप्राय

'मैं यहाँ न औरों का इतिहास लिख रहा हूँ और न अपना जीवन-चरित्र। मैं उन घटनाओं और व्यक्तियों के चित्रों को अङ्कित करने का यत्न कर रहा हूँ, जिन की पृष्ठभूमि में मेरे पिता जी का न्यूनाधिक सम्पर्क विद्यमान हो।'

—मेरे पिता, पृष्ठ संख्या २३४।

★

नामूलं लिख्यते किंचित्,
नानपेक्षितमुच्यते ॥

★

त्वदीयं वस्तु हे तात,

तुभ्यमेव समर्पये ।

—इन्द्र ।

प्रस्तावना

मैं श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति का अनुग्रहीत हूँ कि उन्होंने मुझ से यह प्रस्तावना लिखने का आग्रह किया। मुझे प्रसन्नता तो यह होती है कि मुझे स्वामी श्रद्धानन्द जी को अंजलि देने का अवसर प्राप्त हुआ।

पिछले तीस वर्ष से भारतवर्ष बहुत तेजी से आगे बढ़ रहा हैं। नई घटनाओं की परम्परा ऐसी होती है कि स्वामी जी की महत्ता, उन के बलिदान की अपूर्वता, उन के पवित्र हृदय की आकांक्षाओं, जाति, धर्म और राष्ट्र की उन की सेवा-भावना, साहित्यिक, सामाजिक और राजनीतिक विचार-धाराओं और कार्यवाहियों का थोड़ा सा विस्मरण हो गया है। किन्तु यदि भारत को महान् राष्ट्र होना है तो देश के विश्व-कर्माओं का स्मरण नये जमाने के सामने लाना होगा। इसलिए यह आवश्यक है कि स्वामी जी के पवित्र जीवन, उन की सेवा-भावना, उन की वीरता और कार्यदक्षता को हम हमेशा स्मरण में रखें।

जिस युग में स्वामी जी ने अपना कार्य किया उस युग में जो निडर नेता थे, उन में स्वामी जी अग्रगण्य थे। जो नेता उत्साही थे, उन में स्वामी जी आगे थे। जिन महापुरुषों ने ऋषियों के जीवन पर अपनी जीवन-चर्या बनाई उन में भी स्वामी जी अग्रगण्य थे।

वह युग तो लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय, श्री अरविन्द, पंडित मदनमोहन मालवीय और गाँधी जी जैसे महापुरुषों का था। उन में स्वामी जी का भी स्थान है। वे तो वीर की तरह रहे और शहीद की तरह चले गये, तथा भारत के सामने एक आदर्श जीवन रख गये।

मुझे आशा है कि पितृऋण अदा करने के लिए श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति ने जो स्नेहपूर्ण संस्मरण लिखे हैं, वे स्वामी जी की याद सजीवित रखेंगे।

★

विषय-सूची

मेरे पिता : संस्मरण

पहला परिच्छेद

जब मैंने होश सम्भाला

जब मैंने होश सम्भाला, तब मैं अपनी तायी जी की गोद में पल रहा था। मैं अभी दो वर्ष का ही था, कि मेरी प्रातः-स्मरणीया माता का देहान्त हो गया। उन का नाम 'शिवदेवी' था। जब माता का देहान्त हुआ तब हम चारों भाई बहिन छोटे-छोटे थे। सब से बड़ी बहिन वेदकुमारी जी आठ वर्ष की थीं। उन से छोटी हेमकुमारी (पंजाबी में हेम-कौर) छह वर्ष की थीं, और हरिश्चन्द्र चार वर्ष के थे। मैं दो वर्ष का था और रोगी था।

माता जी हम सब को इस तरह छोड़ कर चली गईं, तो पिता जी के सामने बड़ा विकट प्रश्न खड़ा हो गया। उन की आयु उस समय छत्तीस वर्ष की थी। पिताजी के तीन बड़े भाई थे। उन में से सब से छोटे भाई की पत्नी हमारी माता जी से बहुत प्रेम करती थीं। माता जी की मृत्यु के समय वह जालन्धर में ही थीं। माता जी ने मृत्यु से पूर्व हमारे हाथ तायी जी के हाथ में देते हुए कह दिया था कि, 'बहिन जी मैं

इन्हें आप के सुपुर्द करती हूँ ।' तायी जी के अपनी कोई सन्तान नहीं थी । उन्होंने पूरे मातृभाव से हम लोगों को अपनी गोद में ले लिया । मैं सब से छोटा था, इस कारण मुझे उन की गोद की अन्य सब भाई बहिनों से अधिक आवश्यकता थी । वह गोद मुझे मिल गई । यही कारण है कि जब मैंने कुछ होश सम्भाला, तब अपने आपको तायी जी की गोद में पाया । तायी जी का नाम 'जमुनादेवी' था । ताया जी का नाम आत्माराम था । माता जी की मृत्यु के पीछे वे दोनों जालन्धर में ही रहने लगे थे ।

मैं बचपन में बहुत बीमार रहा । इस से तायी जी ने मेरे लिये बहुत कष्ट उठाए और इसी लिए उन का मेरे साथ वात्सल्य भी बहुत था । वस्तुतः वह वात्सल्य मोह की दशा तक पहुँच गया था ।

मैंने जिस घर में होश सम्भाला, उस की कुछ चर्चा करना भी आवश्यक है । हमारे पूर्वपुरुष जालन्धर से लगभग बीस-बाईस मील दूरी पर तलवन ग्राम के निवासी थे । हमारे दादा जी ने यू० पी० में पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट की नौकरी से पेन्शन लेकर तलवन में मकान, मन्दिर आदि बनवाए थे । मुझ से बड़े भाई बहिनों का जन्म तलवन में ही हुआ था । जब पिता जी ने वकालत करना आरम्भ कर दिया, तब परिवार जालन्धर आ गया, और कचहरी के पास एक किराए के मकान में

रहने लगा। मेरा जन्म उस कचहरीवाले मकान में हुआ था।

जालन्धर में आने के कुछ समय पश्चात्, पिता जी ने होशियारपुर के अड्डे के पास, अपनी कोठी बनानी आरंभ कर दी थी। कोठी का स्थान बहुत खुला था, और मुख्य सड़क के किनारे होने से सुविधाजनक था। जब मैं होश में आया, तब हम होशियारपुर की सड़क वाली कोठी में पहुँच चुके थे। पिता जी को स्वभाव से ही विशाल योजना बनाने का शौक था, यह बात उस कोठी की रचना से सिद्ध होती थी।

कोठी का नक्शा किले के ढंग का बनाया गया था। सड़क की ओर जो दीवार थी, उस के दोनों ओर कोनों पर गोलाई लिए हुए बुर्ज थे। दीवार के मध्य में बड़ा फाटक था। फाटक के अन्दर दाईं ओर अस्तबल था। अस्तबल में दो गाड़ियाँ, एक गाड़ी का घोड़ा, एक सवारी का घोड़ा, और प्रायः दो गौएँ रहती थीं। एक बन्द गाड़ी थी जो उस समय का फैशन था। उस समय की गाड़ियों का प्रचार अब बहुत कम हो गया है, क्योंकि पर्दे की प्रथा नष्ट होती जाती है। दूसरी गाड़ी गिग कहलाती थी, जिसे आजकल की बेबी कार का पूर्व-रूप समझना चाहिये। उसे प्रायः मालिक स्वयं चलाता था। उस के पास एक साथी के बैठने की जगह रहती थी। दायें हाथ पर एक शानदार चाबुक लगा रहता था। साईस के लिए पीछे की ओर खड़ा होने का एक पायदान लगा रहता

था। पिता जी कचहरी उसी में जाते थे। बन्द गाड़ी परिवार के काम आती थी। हमारे साईस का नाम नबीबक्श था। यह बहुत ही मिष्टभाषी और फरमाबरदार नौकर था।

फाटक के दूसरी ओर सद्धर्म-प्रचारक प्रेस और अखबार का कार्यालय था। उस समय साप्ताहिक सद्धर्म-प्रचारक उर्दू में निकलता था। वह पत्र पंजाब की आर्यसमाजों का मुख्य मिश्नरी पत्र समझा जाता था। उस के अग्रलेख, धर्मोपदेश आदि पिता जी स्वयं लिखा करते थे। प्रेस के मैनेजर का नाम बस्तीराम था जो पुराने ढंग की मुंशी श्रेणी का एक बढ़िया नमूता था। कान में कलम लगा कर और आधे नाक पर ऐनक जमा कर जब वह हिसाब लिखने या प्रूफ देखने का काम करता था, तब प्रतीत होता था कि वह भी प्रेस की मशीन का एक पुर्जा है। क्योंकि हाथ हिलाने के सिवा घंटों तक और कोई चेष्टा उस के शरीर में नहीं दिखाई देती थी।

अस्तबल और प्रेस के बाद दूसरा बड़ा और सर्वथा बन्द होने वाला फाटक था, जिस में एक खिड़की थी। दिन में प्रायः वह खिड़की खुली रहती थी, रात के समय वह भी बन्द हो जाती थी।

फाटक के अन्दर एक छोटी सी परन्तु बाँकी वाटिका थी। वाटिका का पिता जी को बहुत शौक था। वाटिका में एक कुआं था, जिस का पानी बहुत ठण्डा और स्वादु था। वाटिका

में शौक की सभी चीजें थीं। घास का मैदान था, फलों के पेड़ थे और सब्जियों की क्यारियाँ थीं। घास के मैदान के चारों ओर बहुत सुन्दर फुलवारी थी। फुलवारी से लगता हुआ लम्बा चौड़ा पक्का चबूतरा था, जिस के पश्चात् तीन मुख्य कमरे थे, जिन में से एक बैठक, दूसरा दफ्तर और तीसरा शयनागार था। ये कमरे अन्य सब कमरों से ऊँचे और विशाल थे। इन की सजावट भी बहुत बढ़िया थी।

वाटिका से दूसरा रास्ता हवेली में जाता था, जिस की दो ड्योढ़ियाँ थीं। अन्दर की ड्योढ़ी दाएं बाएं दो ओर खुलती थी, दाएं ओर की ड्योढ़ी रसोई घर में, और बाईं ओर की हवेली में ले जाती थी।

हवेली का नक्शा यह था कि बीच में चौकोर आँगन था जिस के तीन ओर बड़े-बड़े कमरों की पंक्तियाँ बनी हुई थीं। यदि मै भूलता नहीं तो प्रत्येक पंक्ति में कमरों की संख्या पांच से कम नहीं थी। कमरे काफी बड़े-बड़े थे, पूरी संख्या या पूरा नाप बताना कठिन है क्योंकि मुझे उस कोठी को छोड़े इस समय (१९५६ में) लगभग उनसठ वर्ष हो गए। आज से दस वर्ष पहले एकवार उसे देखने का शौक दिल में उठा था। आजकल वह एक बिरादरी का जञ्जघर है। गया तो था बड़े शौक से, परन्तु द्वार में घुसते ही हृदय पर ऐसा धक्का लगा कि आगे जाने की हिम्मत न हुई। वाटिका के स्थान पर

छोटी-छोटी कोठरियाँ बनाई गई थीं—जिन से पुराना सपना टूट सा गया और दुखी दिल लेकर वापिस आ गया। मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि पिता जी ने जिस भावना से, बड़े प्रेम से बनाई हुई वह कोठी गुरुकुल को दान दी थी, गुरुकुल की स्वामिनी सभा उस भावना से उस की रक्षा न कर सकी। यदि सभा उस कोठी की यथार्थ रूप में रक्षा करती, तो भारत के विभाजन के पश्चात् उसे कार्यालय के लिए दर-दर का भिखारी न बनना पड़ता। उन्हें बना बनाया खूब शानदार कार्यालय मिल जाता। परन्तु सभा ने फूल को पत्तों के भाव बेच कर जहाँ भावना का तिरस्कार कर दिया, वहाँ अपनी भी हानि की। आवश्यकता होने पर उन्हें फूल तो क्या पत्ते भी न मिले।

—

दूसरा परिच्छेद

तलवन की यात्रा

यह तो था पिता जी का शहर का डेरा, अब असली वतन का कुछ वृत्तान्त भी सुनिये।

हमारा वतन या मूल स्थान तलवन नाम के गाँव में था। जैसे मैं पहले लिख चुका हूं हमारे दादा लाला नानकचन्द जी उत्तर-प्रदेश में पुलिस के बड़े अफसर थे। वे बनारस, बरेली

आदि कई बड़े शहरों में पुलिस कोतवाल के पद पर रह चुके थे। वे नौकरी से रिटायर्ड होकर अपने गाँव में आकर रहने लगे थे। वहां उन्होंने हवेली, बैठक, मन्दिर, आदि बनवा कर तलवन को अच्छा कस्बा बनाने में काफी हिस्सा लिया। उनके साथ ही हमारे तीनों ताया जी भी तलवन में ही रहने लगे थे। सब के रहने के अलग-अलग मकान थे, और निर्वाह के लिए ज़मीनें थीं।

दादा जी की मृत्यु के पश्चात् भाइयों का बँटवारा हो गया। पिता जी सब में अधिक पढ़े लिखे थे, और घर-भर में धर्मात्मा समझे जाते थे, इस कारण बँटवारे का काम मुख्य रूप से उन्हीं के सुपुर्द किया गया। पिता जी की तबियत के व्यक्तियों की यह विशेषता होती है कि बँटवारे जैसे मामलों में स्वयं हानि उठाने को न्याय का कार्य समझते हैं। इस बँटवारे में भी ऐसा ही हुआ। चारों भाइयों में मकान, ज़मीन और नकद का जो बँटवारा हुआ, उसमें पिता जी ने सब से घटिया हिस्सा लिया। अन्य भाइयों को अलग-अलग मकान मिले, पर हमें बड़ी हवेली का एक हिस्सा मिला था। पिता जी कहा करते थे कि मैंने तो जालन्धर में मकान बना लिया है, मुझे तलवन में बड़े मकान की आवश्यकता भी क्या है ?

तलवन में तीन तरह की आबादी थी। जिस भाग में हमारे मकान थे, उसे कस्बे का समृद्ध भाग कहा जा सकता

है। पक्के मकान थे, और उनमें से गुज़रने वाली गली भी पक्की थी। दो कुएँ थे और एक मन्दिर था। कस्बे के दूसरे भाग में बाज़ार था। बाज़ार में कामलायक सभी चीज़ें मिल जाती थी। तीसरे भाग में काश्तकार या मुजायरे रहते थे, जो उस समय प्रायः सभी अराईं मुसलमान थे। कस्बे की ज़मीनों के स्वामी अधिकतर ब्राह्मण और खत्री थे, और मुजायरे मुसलमान, जो बस्ती के बाहरी भाग में रहते थे।

यह है संक्षेप में उस समय के तलवन का परिचय। वर्ष में कम से कम एक वार और आवश्यकता पड़ने पर अधिक वार भी सारा परिवार वहाँ जाया करता था। उसी को मैं तलवन यात्रा कहता हूँ। क्योंकि हम बच्चों के लिये वह तीर्थ-यात्रा से कम महत्व नहीं रखती थी। यात्रा तो बीस-बाईस मील की ही थी, परन्तु उसकी तैयारी ऐसी धूमधाम से होती थी, जैसे हरिद्वार या बनारस जाने का विचार हो।

लीजिए, उस साल की तलवन यात्रा का यथासम्भव पूरा विवरण सुनिए। यथासम्भव इस लिए कहता हूँ कि सम्भव है, लगभग ६० वर्ष पुरानी घटना की कुछ बातें याद से रह जाँय।

तायी जी ने यात्रा के दिन से कई दिन पहले आयोजन प्रारंभ कर दिया था। हवेली के बाएं कोने में एक गोदाम का कमरा था, जिसमें दो हाथ की चक्कियाँ लगी हुई थीं। तायी जी

प्रतिदिन प्रातःकाल ४ बजे उठ कर दिन भर के लिए आटा दाल आदि पीस लेती थीं। मुझे याद है कि छोटी उम्र में शायद ही कोई प्रभात ऐसा होता हो, जिसमें हमने आँखें खुलते ही चक्की की आवाज़ न सुनी हो। प्रायः हमारी बड़ी बहन वेदकुमारी जी भी पिसाई के काम में ताई जी का साथ दिया करती थीं। जब तलवन जाने का समय पास आता था तब कुछ फालतू पिसाई की जाती थी। चक्की का तारस्वर देर तक सुन कर हम समझ जाते थे कि तलवन की तैयारियाँ हो रही हैं।

यात्रा से पहली रात खाना बनाने में व्यतीत होती थी। तायी जी यात्रा के लिए दूध के पराँवठे बनाया करती थीं वह मानो यात्रा का विशेष अनुपान था। हम लोगों को उनका बेहद शौक था। साथ के लिए आलू की सब्ज़ी, दही आदि की योजना होती थी।

यात्रा के दिन सब लोग ब्राह्म-मुहूर्त से भी पहले उठते थे, क्योंकि सूर्योदय से पहले ही चल देने का नियम था। झट उठे और नहा धो कर और कपड़े पहन कर सन्नद्ध हो गए। तब तक दोनों घोड़ा-गाड़ियाँ तैयार हो कर सड़क पर निकल आती थीं। गाड़ियों में बैठने की यह व्यवस्था थी कि बन्द गाड़ी में शेष सब बच्चों को ले कर तायी जी बैठ जाती थीं, और मेरे बड़े भाई हरिश्चन्द्र या तो पिता जी के पास गिग

में बैठते थे अथवा पौनी (छोटे घोड़े) पर बैठ कर साथ-साथ चलते थे। मैं तो तायी जी के पास ही रहता था। हम लोगों के साथ, दो बड़ी बहिनों के अतिरिक्त एक और भी लड़की थी, जो पिता जी के एक मित्र की पुत्री थी वह कन्या महाविद्यालय में पढ़ने के लिए जालन्धर में हम लोगों के साथ रहती थी।

इस तरह पूरी तरह तैयार हो कर काफ़ला सूर्योदय से पहले ही चल देता था। दोपहर से पहले हम लोग नूरमहल के पास पहुँच कर एक बागीचे में ठहर जाते थे। बागीचे में कुआँ था, जहाँ घनी छायावाला एक पेड़ था। दरी, चाँदनी बिछा कर वहाँ भोजन और आराम की व्यवस्था होती थी, एक नौकर था जो शायद पाँच या छह साल की आयु से हमारे यहाँ आया था। उसका नाम रणुआ था। वह बुढ़ापे तक पिता जी के साथ ही गुरुकुल काँगड़ी में जा कर भोजन-भंडार में काम करता रहा। गुरुकुल की सेवा में ही उसकी मृत्यु हुई। उन दिनों वह लड़का ही था। वह परोसता था, और हम खाना खाते थे। खाना खा कर घण्टा दो घण्टे आराम करते और फिर कच्चे रास्ते पर पड़ जाते थे।

कच्चे रेतीले रास्ते का मालिक बैल है, घोड़ा नहीं। कच्चे और पथरीले रास्ते पर घोड़ा रो देता है। हम लोग उस रास्ते को बहुत आहिस्ता-आहिस्ता पार करते थे। प्रायः

गाड़ियों से उतर कर पैदल चलने लगते थे। इस कारण गाँव तक पहुँचने में हमें बहुत समय लग जाता था। कभी-कभी तो रात पड़ जाती थी।

जिस यात्रा का यह वृत्तान्त है, उस की एक घटना बहुत स्मरणीय है, जिसे विस्तार से सुनाने का प्रलोभन संवरण करना कठिन है। वह घटना भूतों से सम्बन्ध रखती है। नूर-महल और तलवन के लगभग मध्य में बैलगाड़ी के रास्ते से कोई फर्लांग भर हट कर एक टूटी हुई सराय थी। वह न जाने कब से खण्डहर की शक्ल में पड़ी थी। मशहूर था कि उस खण्डहर में भूतों और चुड़ैलों का डेरा है। साँझ पड़ने के पश्चात् कोई अकेला आदमी उस के पास से नहीं गुज़रता था। जब हम लोग उस टूटी सराय के पास पहुँचने लगे, तो पिताजी ने हम दोनों भाइयों को गाड़ी से नीचे उतार लिया। हमारे हाथों में अपनी दोनों ओर की अँगुलियाँ पकड़ा दीं और खण्डहर की ओर ले चले। पिताजी कट्टर आर्य-समाजी बन चुके थे। वे भूतों को बिलकुल नहीं मानते थे। हमें वे यह कह कर ले चले कि 'चलो तुम्हें दिखाएँ, वहाँ कोई भूत प्रेत नहीं रहता—भूत प्रेत की बात सब झूठ है।' पूर्णिमा की रात थी, चाँदनी खूब छिटक रही थी, जिस से वह खंड-हर रास्ते से दिखाई दे रहा था। तायीजी ने बहुत रोका कि बच्चों को वहाँ मत ले जाओ, पर हम लोगों का शौक सीमा

को पार कर रहा था, और पिताजी तो हमारा डर हटाना ही चाहते थे, वे हमें लेकर सराय की ओर चल दिए ।

कुछ दूर जाकर हमने देखा कि एक आदमी कन्धे पर बँहगी उठाए सराय की ओर हमारे बीच की पगडण्डी पर से जल्दी-जल्दी पग उठाता हुआ गाँव की ओर जा रहा है। पिताजी ने उसे पहिचान लिया। वह हमारे गाँव का कहार था। पिताजी ने सहज स्वभाव से ऊँचे स्वर से उस का नाम पुकारा। बस, पिताजी का पुकारना था कि वह बेचारा चक्कर खाकर धड़ाम से जहाँ था वहीं गिर गया और उस की बँहगी की चीजें रेत में चारों ओर बिखर गईं ।

उसे गिरा देख कर पिता जी बहुत तेजी से उस के पास पहुँचे तो क्या देखते हैं, कि वह बिलकुल बेहोश पड़ा है। हाथ लगा कर देखा तो उस का शरीर तमतमा रहा था। उसे बहुत जोर का ज्वर चढ़ गया था। पिताजी ने अपने कोचवान को आवाज दे कर वहाँ बुलाया और बेचारे कहार को किसी तरह उठा कर गाड़ी में डाल लिया। हम सब पैदल ही गाँव की ओर चल दिए ।

रास्ते में पिताजी हम लोगों को भूत प्रेतों की कहानियाँ सुनाते गए। उस बेचारे की दशा पर वे बहुत ही दुखित थे।

आधी रात के समय पैदल काफला गाँव में पहुँचा। कहार को बेहोशी की हालत में ही उस के घर पहुँचा दिया गया।

घर पहुँचने पर कहार का बुखार बहुत बढ़ गया और साथ ही डिलीरियम शुरू हो गया। वह बेहोशी में आँखें फाड़ कर देखता और चिल्लाता था। उस के चिल्लाने से यह भान होता था कि वह किसी भयानक मूर्ति को देख रहा है। वह चिल्लाता था कि डायन की आँखों से आग निकल रही है, लाल-लाल जीभ मुंह से बाहर दिखाई दे रही है और उस के पांव पीछे की ओर हैं। जब वह ऐसी बेहोशी की बातें करता तब पिताजी उस के सिर पर हाथ रख कर समझाते कि यह सब झूठ है, वहाँ हम भी थे, वहाँ तो कोई चुड़ैल नहीं आई, तो वह जवाब देता था कि 'थी कैसे नहीं। मुझे उस ने नाम ले कर बुलाया।'

दूसरे दिन उस का बुखार कम होने लगा और कुछ होश भी आया तो पिताजी ने उसे बहुत समझाया कि 'तुझे किसी चुड़ैल ने नहीं पुकारा था, आवाज़ देने वाला तो मैं था।' तो भी उसे यह विश्वास नहीं हुआ कि वह चुड़ैल नहीं थी। वह अन्त तक यही कहता रहा कि मैं अपनी बँहगी लिए जल्दी-जल्दी चला जा रहा था कि मुझे अपना नाम सुनाई दिया। ज्यों ही मैंने उधर देखा तो सामने से आती हुई एक भयानक चुड़ैल दिखाई दी, जो मुझे खाना चाहती थी। बस उसी को देख कर मैं बेहोश हो गया।

तलवन उस समय पुराने बिचारों का जबर्दस्त गढ़ था

और अब तक भी वहाँ नवीन प्रकाश ने पूरी तरह प्रवेश नहीं किया । कुछ थोड़े से लोगों को छोड़ कर शेष सब ने यही मानना उचित समझा कि कहार ने वस्तुतः चुड़ैल को ही देखा था । पिता जी की बात पर उन्हें पूरा विश्वास नहीं हुआ । उन्होंने समझा कि यह तो सनातन-धर्म के विरोधी बन गए हैं, इस कारण चुड़ैल का खण्डन करने के लिए बात घड़ रहे हैं ।

—

तीसरा परिच्छेद
पिता जी की घर-गिरस्ती

जब मैंने होश सम्हाला तब से लगभग पाँच-छह साल तक पिता जी की घर-गिरस्ती कैसी रही, इस का थोड़ा सा चित्र इस से पूर्व के परिच्छेद में दिया जा चुका है । इन दिनों पिता जी का गृहस्थ राजा जनक के राज्य जैसा था । पिता जी गृहस्थ में रहते हुए भी गृहस्थ से बाहर रहते थे । उन का शयनगृह हम लोगों से बिल्कुल अलग था । सब बच्चे तायी जी के पास सोया करते थे । पिताजी का शयनगृह हमारे लिए एक बन्द मन्दिर के समान था । जब कभी उस में आँख बचा कर घुस जाते थे, तब आश्चर्य से सब चीज़ों को देखा करते । थोड़ी मात्रा में किसी चीज़ का रखना तो पिताजी की तबियत में था ही नहीं । कपड़ों की एक बड़ी अल्मारी थी । ऐसा याद

आता है कि उस में बड़ी-बड़ी चालीस-पचास दराजें होंगी। एक में कौलर थे—कोई चालीस या पचास। दूसरे में नकटाइयाँ ही नकटाइयाँ थीं। वह भी लगभग चालीस-पचास। तीसरे में इसी संख्या में रुमाल थे। पाठक चालीस-पचास की संख्या की पुनरावृत्ति देख कर शायद हँसेंगे, परन्तु उन्हें याद रखना चाहिए कि यह बहुत छोटे बचपन की स्मृतियाँ हैं। न तो हमने उस समय गिनती की थी और न नोट ही किया था। ध्यान में बैठा हुआ है कि उस कमरे में कुछ भी कम नहीं था। सब चीज़ों की संख्या चालीस-पचास के लगभग होगी। एक सुन्दर सी सन्दूकची थी, जिस में तरह-तरह के तैल और सुगन्धित पदार्थों की शीशियाँ रखी हुई थीं। बहुत दिनों तक उस सन्दूकची को खोलने की हिम्मत नहीं हुई। हम चारों भाई बहिनों में हरिश्चन्द्र जी साहसिक थे। हम लोगों का विचार था कि पिताजी के लाड़ले होने के कारण वे डरते भी नहीं थे। एक दिन बहुत सी मानसिक तैयारी के बाद हरिश्चन्द्र जी ने उस सन्दूकची को खोल ही डाला। हम लोग बड़ी उत्सुकता से देखने लगे कि अन्दर क्या है? देखा कि उस में भी छोटे-छोटे लगभग चालीस-पचास खाने हैं। हरएक खाने में छोटी-छोटी और सुन्दर रूप वाली रङ्ग-बिरङ्गी शीशियाँ रखी हुई हैं, जिन में से प्रत्येक में से जुदा-जुदा खुशबू आ रही है। इसी तरह की आकर्षक सामग्री से वह कमरा सजा

हुआ था। परन्तु जहाँ तक मुझे याद है, उन दिनों में भी हम लोगों ने कभी पिता जी को सुगन्धित तैल लगा कर बाहर जाते नहीं देखा। मैं समझता हूँ कि वह सब सामग्री पिता जी के पूर्व जीवन का अवशेष थी, जिसे उन्होंने हमारी माता जी के स्मृतिरूप में ही सुरक्षित रख छोड़ा था।

पिता जी हम लोगों के उठने से बहुत पहले उठ कर बाहर चले जाते थे। जाने की सूचना हम लोगों को उन की खड़ाऊँ की आवाज़ से मिलती थी। खड़ाऊँ की आवाज़ में एक अद्भुत विशेषता थी, जिस का अनुभव केवल हम ही लोगों को नहीं हुआ, गुरुकुल काँगड़ी के उन सब ब्रह्मचारियों को भी हुआ, जिन्होंने पिता जी के आचार्यत्व काल में गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त की थी। उन लोगों के लिए खड़ाऊँ की वह आवाज़ एक विशेष सन्देश लाती थी। वह निराश को आशा देती थी, उपद्रवी पर आतंक बिठा देती थी, और कुल-वासियों को यह सूचना दे देती थी कि इस घर का कोई मालिक है। बचपन में हमारे लिए वह आवाज एक सन्देश देने वाली होती थी। उस आवाज़ को सुन कर हम बच्चों को यह अनुभव होता रहता था कि हमारे पिता घर में ही हैं और हमारी देख-भाल कर रहे हैं। अन्यथा दिनों पर दिन निकलते जाते थे और हम लोगों को पिता जी का साक्षात्कार करने का अवसर नहीं मिलता था। उन की दिनचर्या निम्न
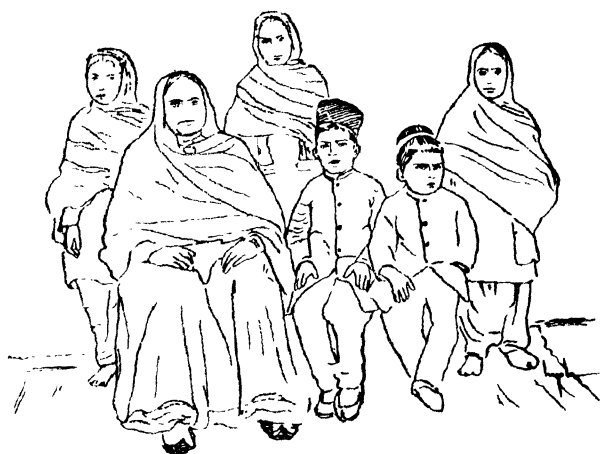
परिवार—

हुए (बांये से)—तायी जी, बालक हरिश्चन्द्र, बालक इन्द्र ।
हुए (,,)—बहन वेदकुमारी, बहन अमृतकला व सुमित्रा जी ।

रायजादा भगतराम जी

ला. मुन्शीराम जी मुख्तार

निम्न लिखित थी—

बहुत सुबह सम्भवतः पाँच बजे उठ कर बाहर चले जाते थे। नित्य कर्म से वहीं निवृत्त होते थे। दफ्तर का काम भी करते थे। केवल भोजन के समय अन्दर आते थे। रसोई के आँगन में एक बड़ी चौकी बिछती थी, उस पर एक सुन्दर आसन बिछाया जाता था। थाली के लिए आसन के सामने एक बाँकी सी तिपाई रखी जाती थी। यह सब तैयारी हो जाने पर नौकर बाबू जी को सूचना देने जाता था कि भोजन तैयार है। उस के पश्चात् घर में खड़ाऊँ की आवाज़ की प्रतीक्षा होने लगती थी। भारी और लम्बा शरीर होने के कारण और साथ ही चरित्र की दृढ़ता के कारण पिता जी के कदमों की यह खासियत थी कि वह भारी और सर्वथा नियमित रूप से पड़ते थे, ध्वनि दूर तक जाती थी। और निश्चित क्षणों के पीछे सुनाई देती थी। इस ध्वनि से घर भर को सूचना मिल जाती थी कि बाबू जी आ रहे हैं। भोजन के समय रसोई में प्रायः बच्चे नहीं रहते थे। पिता जी के लिये फुलका सदा तायी जी अपने हाथ से बनाती थीं। प्रसंग तो टूटता है परन्तु जब बात आ गई तो तायी जी के फुलकों की चर्चा भी कर देता हूँ। तायी जी के फुलके मशहूर थे। हमारे दादा जी संयुक्तप्रांत में पुलिस के अफ़सर थे। वे बाँदा, बनारस और बरेली में शहर कोतवाल रहे थे। वे जहाँ कहीं भी नौकरी

पर जाते, तायी जी को साथ ले जाना पड़ता था। क्योंकि उन्हें तायी जी का बनाया हुआ भोजन पसन्द था। भोजन में भी उन के फुलके छोटे और बिलकुल नरम होते थे। हमारे ताया जी मस्त आदमी थे। नौकरी चाकरी उन की तबियत में नहीं थी। हुक्का और अफीम में उनका वक्त कट जाता था, जो एक बड़े अफ़सर के पुत्र होने से उन्हें माफ था। वे भी या तो दादा जी के पास रहते थे, या अपने गाँव तलवन में विश्राम करते थे। तायी जी को भोजन बनाने का बड़ा शौक था। वे इस कार्य में अपने कमाल को जानती थीं और उसे करने में सन्तोष का अनुभव करती थीं। पिता जी को भी वे उसी शौक से भोजन कराती थीं जिस शौक से उन्होंने दादा जी को कराया था। मैं इस प्रसंग को यह बताए बिना समाप्त नहीं करना चाहता कि जब मैं स्नातक बन कर गृहस्थी हुआ और मुझे तायी जी की सेवा करने का अवसर मिला तो तायी जी ने मुझे और घर के अन्य व्यक्तियों को भी उसी शौक से अपने हाथ के फुलके खिलाए। सत्तर साल से ऊपर उम्र हो जाने पर भी उन का शौक कम नहीं हुआ। चलने फिरने में कष्ट होने लगा था, दृष्टि लगभग जाती रही थी और प्रायः बीमार रहने लगी थीं, तो भी उन का आग्रह था कि उन्हें रसोई बनाने से न रोका जाय। सब चीजें एकत्र कर के उन के पास रख दी जाती और चूल्हे में आग जला दी जाती। वे अपने

नित्य नियम के अनुसार टटोल-टटोल कर रसोई तैयार कर देतीं, तब खाना खातीं। यदि कभी उन्हें बीमारी या कमज़ोरी का कारण बतला कर चौके में जाने से रोकने की चेष्टा की जाती तो वे कहतीं 'अच्छी बात है, मैं चौके में नहीं जाती, पर मैं खाना भी नहीं खाऊँगी। मैं हाथ से बनाए बिना खाना नहीं खा सकती। मुझे किसी का बनाया खाना स्वाद नहीं लगता। मैं यह भी जानती हूँ कि मैं जब खाना बनाना छोड़ दूंगी तब अधिक दिन तक नहीं जिऊँगी' हुआ भी ऐसा ही। एक वार सख्त पेचिश हो जाने के कारण वे हिलने-जुलने में असमर्थ हो गईं, और रसोई में नहीं जा सकीं। उस दिन उन्होंने उदास हो कर कहा 'आज रसोई में जाने की हिम्मत नहीं अब मैं ज्यादा दिन नहीं जिऊँगी।' इस भविष्यवाणी के बीसवें दिन तायी जी ने अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी।

मैं लिख रहा था कि पिता जी को सदा तायी जी अपने हाथों से खाना बना कर खिलाती थीं। खाना खा कर और कुल्ला कर के पिता जी फिर बाहर चले जाते थे। उन की खड़ाऊँ की आवाज़ से बच्चे समझ जाते थे कि अब हमें रसोई में पहुँचना चाहिए। वहाँ जा कर हम दोनों भाइयों में यह प्रतिस्पर्धा रहती कि बाबू जी की थाली में खाना कौन खाए। इस प्रतिस्पर्धा में प्रायः जीत मेरी ही हुआ करती थी, क्योंकि एक तो मैं छोटा था और तायी जी मेरे पक्ष में रहती

थीं। बाबू जी की थाली में प्रायः मैं ही खाना खाता था। मेरा यह शौक यहाँ तक बढ़ा कि यदि किसी कारण वे देर में खाना खाते तो मैं सब भाई-बहिनों के साथ खाना न खा कर तब तक प्रतीक्षा करता कि जब बाबू जी खाना खा कर चले जाएँ तो मैं उन की थाली का उपयोग कर सकूं।

भोजन के बाद थोड़ी देर तक हुक्का पीने के अनन्तर पिता जी कपड़े पहन कर कचहरी चले जाते थे। प्रायः सभी सन्तानों को बचपन में अपने पिता दुनियाँ में सब से अधिक सुंदर, प्रेम करने वाले और बलवान् मालूम हुआ करते हैं। कहना कठिन है कि यह अनुभूति कहाँ तक उचित है परन्तु इस के स्वाभाविक होने में तो कोई सन्देह नहीं। हम लोगों को पिता जी का कचहरी जाने के समय का रूप असाधारण से भी अधिक भव्य मालूम देता था। लम्बा कद, हृष्ट-पुष्ट शरीर, लम्बी दाढ़ी और साफ-सुथरा निर्दोष पहरावा, ये सब चीजें मिल कर उन की मूर्ति को काफ़ी शानदार बना देती थीं। उन दिनों पिता जी कोट, पैंट, कौलर, नकटाई सभी कुछ पहनते थे। परन्तु उन्होंने हैट कभी नहीं पहना। या तो साफ़ा बाँधते थे या ऊँची फैल्ट कैप लेते थे। उन की खुली घोड़ागाड़ी (गिग) का वर्णन मैं पहले कर चुका हूँ। पिता जी अदालत उसी में जाते थे और गाड़ी को स्वयं ही चलाते थे। उन दिनों वे सिगार भी पीते थे। घोड़े की बाग हाथ में लेते हुए वे प्रायः

सिगार मुंह में लगा लेते थे।

कचहरी से लौटते-लौटते शाम हो जाती थी। वे लौटते हुए आर्यसमाज मन्दिर में भी एक घंटा ठहरते थे। प्रारम्भ से वे जालन्धर आर्यसमाज के प्रमुख अधिकारी रहे, जब से मुझे होश आई, तब से उन्हें उस समाज का प्रधान ही पाया।

घर लौट कर उन्हें शायद कपड़े बदलने भर का समय ही मिलता होगा। शाम होने से पहले ही दफ़्तर के सामने वाले चबूतरे पर पूरे दरबार की तैयारी हो जाती थी। कम से कम पचीस-तीस कुर्सियाँ रखी जाती थीं और शायद इतने ही महमानों के लिए सर्दियों में चाय और गर्मियों में बरफ़ सोडा आदि की व्यवस्था की जाती थी। हमारे कुएँ का पानी बहुत ठंडा और स्वादु था। अभ्यागत लोग गर्मियों में उसे भी बहुत शौक से पीते थे। शाम होते ही लोगों का आना आरम्भ हो जाता था। जो सज्जन पधारते उन का मौसम के अनुसार चाय पानी आदि से सत्कार किया जाता। हम बच्चे दूर से ही इस दरबार को देखा करते थे और आने वालों का यथाशक्ति परिचय अन्दर तायी जी को दिया करते थे। उन में से जो लोग प्रतिदिन के आने वाले थे, उन के बारे में तायी जी प्रायः यह टिप्पणी किया करती थीं, 'इन के घर के पास सोडा नहीं बिकता कि पीने के लिए रोज आ जाते हैं।' पाठक लोग इस टिप्पणी से यह न समझें कि मेरी तायी जी साधारण से

कुछ अधिक अनुदार विचारों की थीं। दीवार के पीछे से सुना जाय तो शायद घर-घर में ऐसी टिप्पणियों का अस्तित्व मिलेगा।

यह दरबार अन्धेरा होने तक जारी रहता था। उस में राजनीति, धर्म आदि सभी विषयों पर चर्चा होती होगी। यह अनुमान मैं ऐसे लगाता हूँ कि रानाडे, तिलक, पं. गुरुदत्त डी.ए.वी. कालेज आदि के नाम प्रायः लिए जाते थे। इस प्रसंग में यह बता देना भी अनुचित नहीं होगा कि पिता जी ने अपनी बैठक में जो बड़े-बड़े चित्र लगा रखे थे, उन में से तीन विशेष महत्व रखते थे क्योंकि वे तीनों आकार तथा सजावट की दृष्टि से अन्यों से बढ़कर थे—ऋषि दयानंद, महादेव गोविन्द रानाडे और लोकमान्य तिलक के। अन्धेरा होने पर पिता जी बात-चीत का सिलसिला बन्द कर उठ खड़े होते थे, जिस पर अभ्यागत लोग विदा लेने लगते थे। कुछ समय पश्चात् पिता जी की खड़ाऊँ का शब्द फिर आने लगता था, जिस से हम लोग जान जाते थे कि वह सन्ध्या समाप्त कर के भोजन के लिए आ रहे हैं। उस समय तक बच्चे भोजन कर चुके होते थे। भोजन के पश्चात् थोड़ी देर तक टहल कर पिता जी अपने सोने के कमरे में चले जाते थे। गर्मियों में जब सब लोग सहन में सोते थे तो कभी-कभी ऐसा अवश्य होता था कि सब बच्चे मिल कर पिता जी के पीछे पड़ जाते और उन्हें

कहानी सुनाने के लिए मजबूर करते। कहानियाँ तो तायी जी और बूढ़ी बुआ जी भी सुनाया करती थीं, परन्तु पिता जी की सुनाई हुई कहानियों में हमें विशेष आनन्द मिलता था। वे प्रायः टहलते हुए कहानी सुनाया करते थे। उन कहानियों में से दो अब तक याद हैं। एक तो सर वाल्टर स्काट की कहानी थी और दूसरी चार्ल्स डिकन्स की। उस के पश्चात् सब लोग सो जाते थे।

'जल्दी सोना' और 'जल्दी उठना' इस नियम के पिता जी कट्टर अनुयायी रहे। अन्त समय तक सोने और जागने के इस नियम का उन्होंने पालन किया। वे अपने जीवन में कार्य की इतनी अधिक मात्रा पूरी कर सके, इस का यही रहस्य है।

इस सारी दिनचर्या से पाठकों को मालूम हो जायगा कि ऐसे सौभाग्यशाली दिनों को छोड़ कर जब कि पिता जी के साथ हम लोग घूमने जाते या रात को कहानी सुनाते, हमें उन का सम्पर्क नहीं मिलता था। घर के धन्धों की चिन्ता करने या घर की समस्याओं को हल करने के लिए बातचीत करते, हम बच्चों ने कभी उन्हें न देखा था। घर का सब खर्च तायी जी के हाथों से होता था और प्रेस का सब हिसाब-किताब प्रेस मैनेजर लाला बस्तीराम करते थे। पिता जी डायरी अवश्य रखते थे, परन्तु जहाँ तक हमें याद है उस में आमदनी ही आमदनी नोट करते थे, खर्च नहीं। हम लोग अधिकतर

उन की सत्ता को अनुभव करते थे, देखने या पास आने का अवसर कम पाते थे। जैसे राजा जनक राज्य करते हुए भी अनासक्त थे और जैसे कमलपत्र पानी में रहते हुए भी गीला नहीं होता, उन दिनों पिता जी की दशा ठीक वैसी ही थी। वे गृहस्थी होते हुए भी घर से बहुत कुछ दूर थे। इस का यह अभिप्राय नहीं कि हम लोगों पर उन की दृष्टि नहीं थी। वे देखते और सुनते सब कुछ थे, परन्तु दखल बहुत कम—नहीं के बराबर—देते थे। घर पर दृष्टि रखने का दृष्टान्त निम्न लिखित है। मैं बता चुका हूँ कि हम चारों में से सब से बड़ी बहिन वेदकुमारी जी थीं, उन से छोटी हेमकुमारी जी थीं, जिन का नाम बाद में बदल कर अमृतकला रखा गया था। दोनों बहनों के स्वभाव एक दूसरे से बहुत भिन्न थे। बड़ी बहन के स्वभाव में ठहराव था और छोटी बहन के स्वभाव में तेजी। तायी जी के स्वभाव में भी उस समय काफी उग्रता थी। जब तायी जी तेज़ होती थीं, तब बहन वेदकुमारी जी चुप हो जातीं, परन्तु बहन हेमकुमारी जी जबाब दिए बिना नहीं छोड़ती थीं। इस पर तायी जी का क्रोध भड़क उठता था, जिस का परिणाम यह होता था कि कभी-कभी छोटी बहन की पिटाई भी हो जाती थी। पिता जी के दफ्तर के रोशनदान हवेली के सहन में खुलते थे। अन्दर की आवाज़ बाहर पहुँच जाती थी। रोने की भनक कान में पड़ते

ही पिता जी कुर्सी से उठ कर अन्दर की ओर चल देते थे। उन की खड़ाऊँ की आवाज़ एक गम्भीर चेतावनी की तरह कानों में पड़ने लगती थी। चेतावनी नपे-तुले कदमों से चलती हुई ड्योढ़ी तक आती और वहाँ रुक जाती थी। तायी जी का हाथ रोकने के लिए यह पर्याप्त था। तायी जी का आदर रखने के लिए ऐसे अवसर पर पिता जी कभी ड्यौढ़ी से आगे नहीं बढ़ते थे। चेतावनी की आवाज़ सुन कर ही तायी जी अपना हाथ रोक लेती थीं। इस तरह संयम और समझदारी से कमलपत्र की तरह जल के अन्दर रहते हुए भी उस से अलग रह कर पिता जी उस समय गृहस्थ का पालन करते थे। हम लोग यह तो अनुभव करते थे कि उन की आँखें हम पर हैं, परन्तु उन का हाथ हम से दूर ही रहता था।

उस गृहस्थ जीवन की एक आवश्यक घटना, जिसे मैं उस गृहस्थ जीवन की अपने ढंग की अन्तिम घटना समझा हूँ, बहन वेदकुमारी जी का विवाह था। वह विवाह हम छोटे बच्चों के लिए एक भारी उत्सव था। बचपन के स्मृति-पटल पर उस विवाह के कई धुंधले चित्र अङ्कित हैं। उन चित्रों में पिता जी एक सांसारिक गृहस्थ की तरह विवाह के कृत्यों का सम्पादन करते हुए दिखाई देते थे। हवेली के आँगन में यज्ञ मण्डप बना था। बूढ़े पण्डित श्रीपति जी और बहन जी के अध्यापक पण्डित ब्रजभूषण जी ने मण्डप के पास बैठ कर

सगाई की चिट्ठी लिखी थी । चिट्ठी पर लाल धागा बाँधा गया था और हम लोगों ने भी खूब मिठाई खाई थी । इस समारोह में पिता जी अपने पूरे वेश में मण्डप के पास बैठे हुए आवश्यक रस्में अदा कर रहे थे ।

विवाह खत्रियों में हुआ । धूम-धाम से बारात आई । सब लोग बारात को लेने गए । जो सामान बारात के लिए सत्कार के लिए भेजा गया, उस में सिगारों के डब्बे और पान के बीड़े भी थे । जब घर पर बारात खाने के लिए आई, तो आँगन में सफेद चादरों के फर्श पर पुराने ढंग पर 'मीठाभात' परोसा गया, और खूब बाजे बजे । इस सारी प्रक्रिया में भी पिता जी पूरी तरह भाग लेते रहे ।

सामान्य रूप से शायद पाठक इस वर्णन के महत्व को न समझ सकेंगे । पिता जी ने इन रस्मों में भाग लिया, इस बात का महत्व तभी समझ में आयगा जब उन के ध्यान में यह बात आ जायगी कि इस के पश्चात् पिता जी ने शायद कोई भी पारिवारिक कार्य रस्म के अनुसार नहीं किया । पारिवारिक ही नहीं, अन्य सब प्रकार के कार्यों में भी इस के पश्चात् उन का यही दृष्टिकोण बनता गया था कि यथासम्भव रस्मों को तोड़ा जाय । कट्टर सुधार की भावना उन की अन्तरात्मा में जागृत हो गई थी । कभी-कभी यह ख्याल होता है कि शायद यह विवाह भी उस भावना के उग्ररूप में जागृत

होने का एक कारण हुआ हो।

—

चौथा परिच्छेद

रोपड़ की प्रचार-यात्रा

यह तब की बात है जब मेरी आयु छः सात साल की होगी। पिता जी उस समय आर्य-समाज के काम में पूरी तरह गोता लगा चुके थे। उन दिनों उनका मुख्य काम आर्य-समाज का प्रचार था और गौण काम वकालत।

सद्धर्म-प्रचारक ने उसी साल जन्म लिया जिस साल मैंने। इस प्रकार समाचार-पत्र का और मेरा एक वर्ष में ही जन्म हुआ। यही कारण मालूम होता है कि मेरे और पत्रकार-कला के ग्रह बराबर एक से चल रहे हैं। मैं पत्रकार के काम को छोड़ना भी चाहूँ तो वह नहीं छूट सकता। अस्तु, यह तो अवान्तर बात हुई। प्रसङ्ग की बात यह है कि सद्धर्म-प्रचारक के सम्पादन का सारा कार्य करने के अतिरिक्त, पञ्जाब भर की आर्य-समाजों में घूम कर प्रचार करना और आर्य-समाज के संगठन को मज़बूत बनाना पिता जी के उन दिनों के कार्य-क्रम का सब से प्रधान अङ्ग था। प्रचार के दौरों में वे प्रायः अकेले ही जाया करते थे। वे पञ्जाब की आर्य-प्रतिनिधि-सभा

के प्रधान थे। अतः महीने में दो तीन वार उन्हें लाहौर तो जाना ही पड़ता था, पन्जाब के अन्य शहरों के दौरे भी कुछ कम नहीं होते थे।

मैंने ऊपर कहा कि समाज के प्रचार के लिए वे अकेले ही जाते थे, इस नियम में एक अपवाद भी था। अम्बाले के ज़िले में रोपड़ नाम का एक शहर है। कई वर्ष तक वहाँ के आर्य-समाज के जलसे में पिता जी प्रायः हम सब को ले जाते रहे। वह यात्रा बहुत ही मनोरंजक होती थी। वह उस समय के आर्य-सामाजिक जीवन का एक नमूना थी।

जिस यात्रा का मैं वर्णन करने लगा हूँ वह लगभग १८९६ की है। जालन्धर से कई परिवार एक ही गाड़ी से रोपड़ के लिए रवाना हुए। जहाँ तक याद है, केवल हमारे ताया जी अपने सदा के साथी हुक्के के साथ कोठी पर रह गए थे। हम चारों बच्चे तायी जी और रनुआ पिता जी के साथ गए। गाड़ी में और भी बहुत से आर्यसमाजी परिवार थे।

शाम के समय रेलगाड़ी दोराहा स्टेशन पर पहुँची। रोपड़ जाने के लिए वहाँ उतरना पड़ता था। स्टेशन पर स्वागत के लिए दोराहा के बहुत से आर्य-समाजी पहुँचे हुए थे। रेल से उतार कर वे लोग जालन्धर के सब आर्य-बन्धुओं को एक बाग़ में ले गए जहाँ सन्ध्या, हवन और सब के भोजन का इन्तज़ाम था। आर्य-समाज के उस समय के सुन्दर सामाजिक जीवन

का वह एक अच्छा नमूना था।

अन्धेरा होने से पहले ही यात्रियों का दल नहर के किनारे पर जा पहुँचा। यह सतलज की नहर है, जो रोपड़ से चलकर दोराहे के पास से गुजरती है। नहर के किनारे जाकर देखा कि तीन चार बड़ी-बड़ी छती हुई किश्तियाँ, जिन्हें प्रचलित भाषा में बजरा कह सकते हैं, खड़ी थीं। उन्हें देख कर प्रायः सभी के हृदय में उत्साह पैदा हो रहा था, बच्चों का तो कहना ही क्या ? हमारे लिए तो मानों वह समुद्र-यात्रा थी। यात्री दल उछलता कूदता उन किश्तियों में जा बैठा। सब किश्तिएँ अच्छी थीं, साफ़-सुथरी बनी हुई थीं, बिस्तर बिछा कर सोने की खुली जगह थी। सब लोग धार्मिक जोश से भरे हुए थे। किश्तियों में बैठते ही वेद-मन्त्रों और भजनों का सिलसिला जारी हो गया। किश्तियों को माँझियों ने रस्सियों से बहाव के ऊपर खींचना शुरू कर दिया तो ठण्डी-ठण्डी हवा के झोंके आने लगे, जिस से बच्चों को नींद आ गई, लेकिन सोते-सोते भी हमने अनुभव किया कि आर्य नर-नारी वैदिक-धर्म के गीत गा रहे हैं।

आधी रात के समय सब की नींद उचट गई। आकाश में मानो प्रलय मच रहा था। ऊपर काले-काले घने बादल छाये हुए थे, जो रात के अन्धकार को और भी घना बना रहे थे। तूफानी हवा चल रही थी और बड़ी-बड़ी बूंदों से

पानी बरस रहा था। नौका की छत हवा के झकोरों के सामने सर्वथा व्यर्थ सिद्ध हो रही थी। पानी सपाटे से आता था और इस पार से उस पार निकल जाता था। हम लोग अपनी तायी जी के चारों ओर दुबक कर बैठ गए थे। कपड़े भीग गये थे और ऊपर से पानी बराबर बरस रहा था। पिता जी उस काफिले के नेता थे, वे किश्ती के अग्रभाग में बरसते पानी में खड़े हो कर अपने गरजते हुये स्वर में सब यात्रियों की हिम्मत बँधा रहे थे और ईश्वर स्मरण करने की प्रेरणा कर रहे थे।

इस के आगे विस्तार से याद नहीं कि उस रात क्या हुआ ? यह स्मरण है कि जब प्रातःकाल हुआ, तब हमारी किश्तियाँ आगे चल सकीं। रात भर उन्हें खूंटे से बँघे रहना पड़ा। उस का यह परिणाम यह हुआ कि हमारी जो जल यात्रा दोपहर से पहले समाप्त होनी चाहिए थी, वह सन्ध्या समय में समाप्त हुई। घाट पर लाला सोमनाथ और बहुत से आर्य नर-नारी स्वागत के लिए विद्यमान थे। लाला सोमनाथ उन वीर आर्य-समाजियों में से थे, जिन्हें अपने विश्वास के कारण सारी बिरादरी और परिवार का विरोध सहना पड़ा था। आजकल के आर्य-समाजी पूरी तरह समझ भी नहीं सकते कि उस समय के आर्य-समाजियों को कैसी शिलाओं से टकराना पड़ता था। आज तो आर्य-

समाज का मार्ग शाही मार्ग है, जिस पर चल कर बहुत से भाग्य-शाली राज-महलों तक पहुँच जाते हैं। परन्तु उस समय आर्य-समाज का मार्ग बहुत बीहड़ जंगल का मार्ग था, जिस में जगह-जगह गड्ढे और कँटीली झाड़ियाँ थीं। उन में से कोई विरला भाग्यशाली ही आहत हुए बिना निकल सकता था। लाला सोमनाथ उन वीर आर्य-समाजियों में से थे, जिन्होंने बहुत सी चोटें खा कर भी धर्म-यात्रा को पूरा करने में सफलता प्राप्त की थी।

स्मृति-पट पर उस समय का जो चित्र अङ्कित है, उसमें एक मूर्ति और भी खड़ी दिखाई देती है। याद आता है कि लाला सोमनाथ के पास एक सज्जन और खड़े थे, जो देखने में पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त के मुसलमान दिखाई देते थे। मजबूत शरीर, दरम्याना कद, छोटी-छोटी दाढ़ी, बड़ी-बड़ी मूछें, सिर पर लम्बे शलमे वाली बड़ी सी पगड़ी, कोट के बटन खुले हुए और हाथ में एक किताब थी। वे ऋषि दयानन्द के अनन्य भक्त धर्मवीर पण्डित लेखराम थे। सँभवतः यह मेरे लिये पण्डित जी के पहले दर्शन थे।

हम लोगों के किश्तियों से उतरने पर पिता जी से पण्डित लेखराम जी की जो बातचीत हुई, उस का कुछ प्रारम्भिक हिस्सा मुझे याद है। पण्डित जी ने आगे बढ़ते हुए कहा—"प्रधान जी नमस्ते, देख लीजिये, मैं आप से पहले यहाँ पहुँच गया।"

पिता जी ने उत्तर दिया—"आप को तो पहले पहुँचना ही चाहिए था, क्योंकि आप तो आर्य-मुसाफ़िर हैं, मुसाफिर आगे ही रहा करते हैं।"

पं. लेखराम जी आर्य-मुसाफ़िर या आर्य-पथिक कहलाते थे और पिता जी ने अपने आप को कल्याण मार्ग का पथिक लिखा है। आर्य-समाज के इन दोनों कल्याण-मार्ग के पथिकों का यह वार्तालाप भविष्य-वाणी से कैसे भरा हुआ था यह किसी को उस समय मालूम नहीं था। दोनों एक ही राह के राही थे तथा एक ही द्वार से हो कर इस संसार से विदा हुए। भेद केवल वही रहा जो रोपड़ की उस बात-चीत में झलक रहा था। पं. लेखराम जी की गति बहुत तेज थी। इस कारण वह रास्ते को जल्दी तय कर गए और कुर्बानी के द्वार से हो कर विश्राम स्थान में पहुँच गए। पिता जी की तबियत में अपेक्षया अधिक ठहराव था, इस कारण वे रास्ते पर देर तक चलते रहे। परन्तु पहुँचे उसी कुर्बानी के द्वार से और उसी विश्रान्ति स्थान पर।

यह मैंने पं. लेखराम जी के प्रथम दर्शन का वृत्तान्त सुनाया है। इस से आगे की स्मृतियों का समावेश अगले परिच्छेद में करूँगा।

—

पाँचवाँ परिच्छेद

कल्याण-मार्ग के दो पथिक

मेरी आयु उस समय शायद छह वर्ष की होगी । मैं उस मकान का कुछ वर्णन अपने पूर्व लेख में कर चुका हूँ, जिस में हम लोग रहते थे । पिता जी के मस्तक पर एक शान की रेखा थी । वह जो काम करते थे और जिस ढङ्ग में करते थे, उस में एक खास तरह की शान रहती थी । वह मकान भी एक किले की सी शान रखता था ।

उस मकान के सदर दरवाजे के लगभग सामने आर्य-समाज-मन्दिर था, बीच में केवल सड़क पड़ती थी । व्यवहार में हम उस सड़क को घर का ही एक रास्ता मान लें तो अनुचित न होगा, क्योंकि उस समय पिता जी का निजू जीवन आर्यसमाजमय था । आर्यसमाज-मन्दिर और कोठी में सीमा की रेखा बाँधना कठिन था । दोनों एक दूसरे के परिशिष्ट थे । पिता जी का आधा समय समाज-मन्दिर में व्यतीत होता था और कोठी का अतिथि-गृह आर्यसमाज के उपदेशकों और अभ्यागतों से शायद ही कभी खाली रहता हो ।

उस अतिथि-गृह में अनेक अतिथि आते रहते थे, उन सब की सूरतें याद नहीं, पर एक सूरत मानों पत्थर की लकीर हो

कर स्मृति पर बैठी हुई है । वह थी आर्य-पथिक पं. लेखराम जी की मूर्ति ।

जो घटना याद है, उस में आर्य-पथिक का वह पेटेण्ट रूप नहीं था । उस समय उन्होंने केवल एक कपड़ा पहिना हुआ था और वह था पायजामा । बरसात के दिन थे । शाम का समय था । शरीर से पानी बह रहा था । इस कारण पायजामे के भक्त पं. लेखराम जी केवल पायजामा पहिने कोठी से निकल कर आर्यसमाज के कुंए की ओर जा रहे थे ।

कुंए के पास एक पेड़ था—शायद जामुन का—जिस के नीचे चारपाई डाल कर पण्डित जी लिखा करते थे । आप वहाँ जा कर खड़े हुए । उस स्थान पर वैदिक पाठशाला के दो-तीन विद्यार्थी थे । उन के नाम याद नहीं । मैं भी पास ही खड़ा था । एक विद्यार्थी ने बातचीत के प्रसङ्ग में पूछा—

'पण्डित जी, मन का क्या लक्षण है ?' मैं उस का कुछ अभिप्राय न समझा क्योंकि इतना छोटा बच्चा मन और उस के लक्षण की बात क्या जाने । मुझे भी यह बात याद न रहती, यदि पण्डित जी का जवाब इतना विलक्षण न होता । उस जवाब के कारण ही वह घटना मेरी स्मृति पर अङ्कित हो गई है । आप ने उत्तर दिया—'उल्लू का पट्ठा' ।

जिज्ञासु पण्डित जी का मुंह देखने लगा । शायद उस ने समझा हो कि पण्डित जी ने उसे ही गाली दे डाली । पण्डित

जी भाँप गए और बोले, 'भाई ! मैं कहता हूँ कि मन उल्लू का पट्ठा है क्योंकि अगर इसे काबू में न रखो तो यह अनर्थ कर देता है।'

यह व्याख्या सुन कर विद्यार्थी हँस पड़े । इस उत्तर में पं. लेखराम जी के चरित्र की कई विशेषताएँ भरी हुई हैं । आप हाजिर जबाब थे, तुर्तफुर्त जवाब देते थे। आप की भाषा में एक सीधापन था, जो अक्खड़पन की सीमा तक पहुँचता था। आप सूक्ष्म से सूक्ष्म बात को जनता के समझने योग्य स्पष्ट भाषा में प्रकट करने की शक्ति रखते थे।

मैंने ऊपर आर्य-पथिक को पायजामे के भक्त लिखा है । पायजामा और प्याज़ ये दो आप के विशेष प्रेम की वस्तुएँ थीं । पायजामा के भक्त होने के कारण आप धोती के सख्त विरोधी थे। एक घटना याद आती है । पिता जी घर पर धोती पहिनते थे । केवल अदालत या सफर में जाते समय पायजामा या पतलून पहिना करते थे । एक दिन वे धोती कुर्ता पहिने बैठक के बाहिर चबूतरे पर घूम रहे थे कि बाहर से पायजामा-धारी पण्डित जी आए और जहाँ तक मुझे स्मरण है, निम्नलिखित वाक्य कहा—

'ईश्वर जानता है, लाला मुन्शीराम जी ! इस धोती ने ही हमारे देश का नाश किया है। आप धोती न पहिना करें।'

पिता जी हँस पड़े। जैसे महाराष्ट्र साम्राज्य के संस्थापक

छत्रपति शिवाजी के चित्र को देख कर यह पहिचानना कठिन है कि वह कोई मुगल बादशाह है या मराठा सरदार, उसी प्रकार पं. लेखराम जी को पूरे वेश में देख कर यह भेद करना दुष्कर था कि वे पेशावरी मुसलमान हैं या सरहद्दी हिन्दू ?

पं. लेखराम जी का पिता जी से सगेभाई का सा प्रेम था। हमारे घर पर उन का आना-जाना और रहना निःसंकोच था। हम बच्चे उन्हें 'पण्डित जी' नाम से पुकारा करते थे। घर में प्रायः उन की चर्चा हुआ करती थी। पिता जी उन के निडरपन के कारनामे बड़ी प्रशंसा के साथ सुनाया करते थे। तायी जी उन से काफी असन्तुष्ट रहती थीं। वह गृहस्वामिनी ठहरीं, हमेशा का मेहमान उन्हें कैसे रुच सकता था। एक और भी बात थी। वह स्त्रीसुलभ नैसर्गिक बुद्धि से यह अनुभव किया करती थीं कि इस अनथक उपदेशक के साथ जरूर कोई न कोई मुसीबत बँधी हुई है, जो हमारे घर पर भी आ सकती है। जब बाहर से खबर आती थी कि पं. लेखराम जी आ रहे हैं, तब तायी जी प्रायः कहा करती थीं—'आ गई आफत।'

पं. लेखराम जी की विस्तृत जीवनी पिता जी ने लिखी है। वह पिता जी के व्यक्तिगत संस्मरणों से भरी पड़ी है। बच्चे की यादवाश्त के छोटे से खजाने में जो दो-चार टुकड़े मिले हैं, यहाँ उन्हीं को लिखना चाहता हूँ।

यह स्मरण है कि एक दिन पं. लेखराम जी अपनी धर्म-

पत्नी सहित कोठी में आये। उन की धर्मपत्नी का नाम लक्ष्मी था। यह भी स्मरण है कि वह बहुत ही लज्जाशील थीं। उस के पश्चात् पण्डित जी का हमारे यहाँ रहना बन्द हो गया, क्योंकि उन्होंने कोट राधाकृष्ण में घर ले लिया था।

पण्डित जी उर्दू के बड़े जबरदस्त लेखक थे। जिस धड़ल्ले का व्याख्यान देते थे, उसी धड़ल्ले की उर्दू लिखते थे। उन के अधिकाँश लेख तथा ग्रन्थ या तो दार्शनिक विषयों के सम्बन्ध में हैं अथवा मुसलमानों और विशेषतः कादयानी मुसलमानों के विषय में लिखे गए। वह सब को बहुत खरे और अप्रिय सत्य कह डालने वाले समालोचक थे। उन के ग्रन्थ प्रायः हमारे ही सद्धर्मप्रचारक यंत्रालय में छपा करते थे। जहाँ तक मुझे याद है उन का कातिब एक मुसलमान था, जो हमारे प्रेस का सब से पुराना और विश्वस्त कातिब था। उस का नाम निजामुद्दीन था।

प्रेस के प्रसंग में एक और बात भी याद आ गई। सद्धर्म-प्रचारक प्रेस का मैनेजर अपने समय के पुराने मुन्शियों का नमूना था। उस का नाम—बस्तीराम—था। लम्बी दाढ़ी, जो उस युग में शिष्टता का चिन्ह मानी जाती थी, बस्तीराम के चेहरे पर भी विराजमान थी। वह बहुत ही मेहनती, और कंजूस आदमी था। पिता जी शाहखर्च और उदार मशहूर थे। उन की आशुतोष और विश्वासी तबियत से जो लोग

लाभ उठाना चाहते थे—वे बस्तीराम से बहुत जलते थे। दृष्टान्त के लिए हम बच्चों को लीजिये। उस समय हम चार लड़के घर पर रहते थे। हरिश्चन्द्र जी, मैं, चेतराम और जेठराम। यह चेतराम और जेठराम कौन थे, और हम दोनों के साथ भाइयों की तरह कैसे पले? यह किस्सा किसी दूसरे स्थान पर सुनाऊँगा। इस समय तो केवल इतना ही बतलाना अभीष्ट है कि हम चारों भी सद्धर्मप्रचारक प्रेस के मैनेजर लाला बस्तीराम से बहुत नाराज रहते थे, क्योंकि वे हमें प्रेस से कागज़, कलम आदि आकर्षक सामग्री नहीं उड़ाने देते थे। यदि किसी को प्रेस में पा लेते तो सीधे दफ्तर में पहुँच कर बाबू जी (पिता जी) के सामने पेश कर देते थे। उदार स्वामियों को ऐसे सेवकों की आवश्यकता होती है। इसी कारण जब तक सद्धर्मप्रचारक उर्दू में रहा तब तक उस के मैनेजर लाला बस्तीराम जी रहे। प्रेस में उन का शासन-काल सम्भवतः चौदह या पन्द्रह वर्ष तक रहा होगा।

इसी प्रसङ्ग में पिता जी के मुन्शी उदयसिंह भी याद आ गए। वे वकील साहब के मुन्शी थे। उसी ठाठ से रहते थे। कान में सदा होल्डर लगा रहता था। यद्यपि कलमदान में कई कलमें रहती थीं तो भी उन का भरोसा कान में लगी कलम पर ही रहता था। तलवार तभी सिर उड़ाती है जब म्यान से बाहर हो। मुन्शी जी अपनी कम से कम एक तलवार सदा

ध्यान से बाहर-रखते थे।

उदयसिंह जी की एक और बात याद है। यदि मेरे बड़े भाई गवाही दे सकते तो वे भी मेरा समर्थन करते। हरिश्चन्द्र जी बड़े भी थे और समर्थ भी। मैं बचपन से ही बीमार रहा हूँ। दो वर्ष की आयु में निमोनिया का पहला आक्रमण हुआ। और चार वर्ष की आयु में दूसरा। इस के बाद से मुझे सदा खाँसी बनी रही। बचपन में मैंने न जाने लाल शर्बत की कितनी बोतलें पी डाली थीं। मेरे शरीर का उठान पिता जी और भाई जी तक नहीं पहुँचा, उस का कारण मेरी बचपन की बीमारी ही थी। उस बीमारी के कारण मैं शरारतें भी कम कर सकता था। हरिश्चन्द्र जी का शरीर उस समय खूब हृष्ट-पुष्ट था। वे बाल-सुलभ नटखटियों में हम लोगों के अगुआ रहते थे। जब कभी पकड़े जाते और बाबू जी के दरबार में हाजिरी होती, तब उन्हें यह सजा दी जाती थी कि घंटा दो घंटा तक मुन्शी उदयसिंह की देख-रेख में रहें। मुन्शी उदयसिंह उन्हें अपने दफ्तर के कमरे में पाँव दूर-दूर रखा कर खड़ा कर देते थे और कभी-कभी दो-दो घंटा खड़ा रखते थे। उस आपत्ति के समय में यथाशक्ति तरह-तरह की मदद पहुँचाना हम बच्चों का काम था।

एक दिन समाज-मन्दिर में और हमारी कोठी पर बड़ी भारी भीड़ लग गई। हम लोगों ने सुना कि लाहौर में किसी

मुसलमान ने पं० लेखराम जी को छुरे से मार दिया है। जिस समय इस आशय का तार आर्यसमाज में पहुँचा उस समय पिता जी लाहौर गए हुए थे। मैं लिख चुका हूँ कि पिता जी और पण्डित जी अभिन्न सखा थे। पण्डित जी के समालोचनात्मक ग्रन्थ सद्धर्मप्रचारक प्रेस में छपते थे। इस कारण जालन्धर में यह अफवाह फैल गई होगी कि पिता जी भी छुरे के शिकार हो गए। सैंकड़ों लोग हमारी कोठी में उन का कुशल समाचार पूछने के लिए आए। मुझे याद है कि हम सब लोग बहुत विचलित हो गए। शायद तायी जी और बहनें कुछ रोयी भी थीं। तुरन्त ही एक आदमी लाहौर भेजा गया जो दूसरे दिन प्रातःकाल तक सब समाचार ले आया। उस समय तक लाहौर के दैनिक पत्र ट्रिब्यून में भी पं० लेखराम जी के बलिदान की पूरी कहानी आ चुकी होगी, तब कहीं हम लोगों की चिन्ता दूर हुई, परन्तु कभी-कभी अफवाह भी भविष्यवाणी का रूप धारण कर लेती हैं। किंवदन्ती उड़ाने वालों को यह मालूम नहीं था कि वे एक ऐसी भविष्यवाणी कर रहे हैं। जो लगभग ३० वर्ष पश्चात् पूरी होगी। आर्यपथिक पण्डित लेखराम जी का बलिदान ६ मार्च १८९७ के दिन हुआ। और कल्याण-मार्ग के पथिक स्वामी श्रद्धानन्द जी २३ दिसम्बर १९२६ के दिन वीर गति को पधारे। एक आततायी के छुरे का शिकार हुआ तो दूसरा आततायी की गोली का निशाना

बना। सवारी अलग-अलग थी, परन्तु जिस मंजिल पर दोनों सखा पहुँचे वह एक ही थी और वह थी आत्म बलिदान की मंजिल जो मनुष्यजाति के लिए सब से श्रेष्ठ मंजिल है और केवल पुण्यों के विशाल संग्रह से प्राप्त होती है।

—

छठा परिच्छेद

भगवत्कृपा का भरोसा

इस से पूर्व मैंने एक ऐसी घटना सुनाने का वायदा किया था, जिस ने पिता जी के हृदय में ईश्वर-विश्वास और श्रद्धा की जड़ों को अधिक मजबूत बना दिया था। वह घटना पिता जी प्रायः सुनाया करते थे।

घटना इस प्रकार थी—सद्धर्म प्रचारक में सनातनधर्म सभा पंजाब के उपदेशक पं. गोपीनाथ जी के सम्बन्ध में एक छोटा सा सम्पादकीय नोट प्रकाशित हुआ। उस नोट में पं. गोपीनाथ जी के चरित्र पर आक्षेप किया गया था। जिस समय सद्धर्म प्रचारक में वह नोट प्रकाशित हुआ, उस समय पिता जी जालन्धर में नहीं थे। सहायक सम्पादक लाला वजीरचन्द जी ने वह नोट लिखा था। पं. गोपीनाथ जी को इस से पूर्व लाहौर के अंग्रेजी के एक अखबार के विरुद्ध मान-

हानि के दावे में सफलता हो चुकी थी । सफलता द्वारा बढ़े हुए उत्साह से प्रभावित हो कर पं. गोपीनाथ जी ने सद्धर्म प्रचारक के सम्पादक और प्रकाशक पर मानहानि का दावा कर दिया ।

जिस समय पिता जी को लाहौर की अदालत का समन मिला, वे दौरे पर थे और बीमार थे । जुकाम और बुखार से पीड़ित होते हुए भी प्रचार के जोश में वे कई मास से निरन्तर घूम रहे थे । समन पा कर वे लाहौर पहुंचे ।

इस मुकदमे ने प्रारम्भ से ही एक सार्वजनिक रूप धारण कर लिया था । पंजाब में आर्य-समाज में और सनातनधर्म सभा में जो विचार संघर्ष वर्षों से चल रहा था, यह उस की पराकाष्ठा थी । दोनों ओर बड़ा जोश था ।

मुकदमे के अनुसार ही वकील किए गए थे । पं. गोपीनाथ जी की ओर से एक अंग्रेज वकील थे, जो उस समय लाहौर में वकीलों के सरदार समझे जाते थे । पिता जी की सफाई के लिए हमारे मामा रायजादा भगतराम जी जालन्धर से गए थे ।

यहाँ कुछ शब्द मामा भगतराम जी के विषय में लिख देना अनुचित न होगा । हमारे मामाओं में से व्यक्तिगत सम्बन्ध में रायजादा भगतराम जी पिता जी के सब से अधिक समीप थे । कट्टर आर्य-समाजी, शाकभोजी और सार्वजनिक

कार्यकर्ता होने के नाते से लाला देवराज जी का पिता जी के अधिक समीप होना स्वाभाविक था, परन्तु बहुत पूर्व से ही राय-ज़ादा भगतराम जी से पिता जी का गहरा प्रेम था। परिवार के सम्बन्ध कड़वे हो गए, पिता जी ने जालन्धर छोड़ दिया, महात्मा बने और फिर सन्यास ले लिया, परन्तु दोनों का निजी प्रेम शिथिल नहीं हुआ। जब पिता थी की आयु लग-भग ७० वर्ष की हो गई थी, तब मामा जी एक मुकदमे की पैरवी में दिल्ली आ कर शायद अन्तिम वार उन से मिले थे। उस समय भी मैंने सुना कि पिता जी उन्हें—भगतराम—और मामा जी पुराने संस्कारों के अनुसार उन्हें—मुंशीराम जी—इस नाम से पुकार रहे थे।

आश्चर्य की बात यह थी कि मामा भगतराम जी विचार पद्धति में पिता जी मे सर्वथा भिन्न थे। विलायत से बैरिस्टरी के साथ ही वे बहुत विलायती रङ्ग-ढङ्ग ले आए थे। अंग्रेजी ढङ्ग का रहन-सहन पसन्द करते थे, गोश्त खाते थे और धर्म को बहुत गम्भीर वस्तु नहीं समझते थे। हमारी मामी जी को मांस से बहुत घृणा थी। उन के चौके में आमिष नहीं पक सकता था। मामा जी का खानसामा अलग था और डाइनिंग रूम भी अलग था, जहाँ वे मेहमानों और बाल-बच्चों के साथ खाना खाया करते थे। पिता जी या स्नातक बनने के पश्चात् हम लोग जब कभी मामा जी कोठी पर जाते थे, तब मामी

जी की रसोई के सदस्य ही बनाए जाते थे।

पिता जी कट्टर निरामिषभोजी और मामा जी भोजनादि में सर्वथा आज़ाद परन्तु दोनों का व्यक्तिगत सान्निध्य अपूर्व था।

इस का मुख्य कारण यह था कि पिता जी और मामा जी दोनों में एक समानता थी। दोनों के हृदय विशाल थे। उन में इतनी खुली जगह थी कि वे केवल विचारभेद से दूरी करने की आवश्यकता नहीं समझते थे। मामा जी के लिए यदि कोई अंग्रेज़ी शब्द बिल्कुल ठीक जंचता तो वह 'परफैक्ट जेन्टिल-मैन' यह शब्द था। दो उदारहृदय बन्धुओं में लड़ाई नहीं हुआ करती। लड़ाई वहीं होती है, जहाँ हृदय के द्वार तंग हों।

अस्तु, तो मामा जी जालन्धर से पिता जी का मुकदमा लड़ने के लिए लाहौर गए। पहली पेशी में पं. गोपीनाथ जी की गवाही होने वाली थी। मामा जी ने पिता जी से पूछा—'मुंशीराम जी, कोई मसाला भी है या नहीं? जिरह में क्या पूछा जाएगा।' मसाला कुछ था ही नहीं, दोनों चिन्तित थे कि मुकदमा कैसे लड़ा जाएगा? पिता जी ने उत्तर दिया—'भाई, मसाला तो कुछ भी नहीं, एक ईश्वर का भरोसा है। चलो, कोई न कोई रास्ता निकल आएगा।'

दोनों बन्धु खाली हाथ अदालत में जा पहुँचे। पं. गोपीनाथ जी को अपनी जीत का दृढ़ निश्चय था। वे शेर की

तरह छाती ताने हुए आए और अपना बयान स्पष्ट शब्दों में दिया। इतने में लंच का समय हो गया। अदालत उठने की तैयारी करने लगी, और रायजादा भगतराम जी इस्तगासे के बयान पर दृष्टि गड़ा कर देखने लगे कि लंच के बाद क्या जिरह की जायगी ?

आगे जो हुआ, वह यथासम्भव पिता जी से सुने हुए शब्दों में ही सुनाता हूँ—

मैं पीठ पीछे हाथ रखे खड़ा था, कि इतने में मेरे हाथ को किसी ने छुआ और कोई चीज़ पकड़ाई। मैंने उस चीज़ को पकड़ने के लिए हाथ फैलाया तो किसी ने काग़ज़ों का एक पुलिन्दा मेरे हाथ में दे दिया। मैंने यह समझ कर कि किसी अख़बार की फाइल होगी उसे ले लिया। इतने में अदालत लंच के लिए उठ गई। मैं उस पुलिन्दे को हाथ में ले कर यह सोचता हुआ बाहिर निकला कि मामले के बिना मुकदमा कैसे लड़ा जायगा ? बाहिर निकल कर भगतराम जी के साथ एक कमरे में जा बैठा। तब ख्याल आया कि मेरे हाथ में कुछ कागज़ हैं, उन्हें देखना चाहिए। देखा तो दंग रह गया। पं० गोपीनाथ जी की बदचलनियों के सबूतों का ढेर मेरे सामने पड़ा था। बंडल में वेश्याओं के नाम गोपीनाथ जी के लिखे हुए पत्र थे। उन पत्रों में वे रहस्य भरे पड़े थे, जिन का किसी को वहम भी नहीं हो सकता था।

जब उस बंडल को मैंने भगतराम जी के सामने रखा तो वे उछल पड़े। उस बंडल को पिता जी के हाथ में कौन रख गया यह कभी पता न लग सका। यदि पिता जी आर्यसमाजी न होते तो उसे अवश्य ही 'सांवलशाह' का चमत्कार मान लेते। उस बंडल ने न केवल पिता जी को निर्दोष साबित कर दिया, पं० गोपीनाथ जी का असली रूप भी संसार के सामने रख दिया।

पिता जी कहा करते थे कि उस बंडल की घटना ने मेरे इस विश्वास को बहुत दृढ़ कर दिया कि साँच को आँच नहीं ? क्योंकि सत्य के रक्षक परमात्मा का हाथ मनुष्य के हाथ से बहुत लम्बा है।

हम दोनों भाई उन दिनों वैदिक पाठशाला में पढ़ते थे, जो गुजरांवाले में खोली गई थी। इस मुकदमे का समाचार हमने वहीं सुना।

—

सातवाँ परिच्छेद

बन्धन से मोक्ष को ओर

जैसे पर्वत की किसी ऊँची चोटी से पानी की धारा निकल कर किसी गहरे स्थान में इकट्ठी होती रहती है, जिस से

झील भर जाती है और जब झील लबालब भर जाती है, तब पानी रास्ता तालाश कर के एक निश्चित दिशा में नदी का रूप धारण कर के बहने लगता है, उसी प्रकार पिता जी का जीवन बड़ी बहिन वेदकुमारी जी के विवाह के पश्चात् निश्चित मार्ग बना कर धर्म सेवा की नदी के रूप में सर्वमेध यज्ञ की ओर को बहने लगा था। पिछले लेख में मैंने उस जीवन के लबालब भरने की कथा सुनायी थी। इस लेख में मैं उन की नई जीवनधारा के पहले पड़ाव के कुछ संस्मरण लिखूंगा।

एक दिन प्रातः काल हवेली के अन्दर खबर पहुँची कि बाहर बाबू जी से मिलने वालों की भीड़ लग रही है। क्या मामला है, यह जानने के लिए हम दोनों भाई भाग कर बाहर आए। दफ्तर के बरामदे में कुर्सियों पर बहुत से आदमी बैठे थे और पिता जी एक अङ्गरेज़ी का अखबार सुना रहे थे। प्रायः सभी उपस्थित लोगों के हाथ में अखबार दिखाई देता था। हम दोनों अङ्गरेज़ी नहीं समझ सकते थे। इस कारण पूरी बात तो समझ में नहीं आई परन्तु लेख पढ़े जाने के पश्चात् जो आपस की बातचीत हुई और जिस प्रकार लोग ताली दे-दे कर हंस रहे थे, उस से हमने यह अवश्य जान लिया कि मामला कोई मज़ाक का है, और अखबार के किसी लेख से लोग धोखे में आ गए हैं। उसी समय हम ने यह भी देखा कि तार वाला कई तार लेकर आया है, वे भी पढ़े गये और उन

पर भी कहकहा लगा ।

उस समय तो हम लोग अच्छी तरह नहीं समझ सके कि क्या बात थी । परन्तु पीछे से सब भेद समझ में आ गया । बात यह थी कि कुछ समय पहले पिता जी ने समाज मन्दिर में रहतियों को शुद्ध किया था । रहतियों की गिनती उस समय अछूत हिन्दुओं में की जाती थी । आर्यसमाज सिद्धान्त रूप में प्रारम्भ से ही छुआछूत को नहीं मानता था, परन्तु तब तक उस की ओर से अछूतता को दूर करने का कोई संगठित उपाय नहीं किया गया था । पिता जी के जीवन की सब से बड़ी विशेषता यही थी कि वे जिस बात पर विश्वास करते थे, उसे कार्य में ला डाले बिना चैन नहीं लेते थे । वे उस समय जालन्धर आर्यसमाज के प्रधान थे । एक शुभ अवसर निकाल कर आर्यसमाज मन्दिर में बहुत से आर्य सभासदों और दो-तीन सौ दर्शकों की उपस्थिति में कई रहतिए भाई शुद्ध कर के आर्यसमाज में शामिल कर लिए गए । उपस्थित सभासदों ने उन के हाथ से हलुआ खाया और जल पिया । हिन्दू जाति के लिए यह एक नई चीज़ थी । सनातन धर्म सभा ने इस मामले को लेकर जनता को खूब भड़काया जिस के फलस्वरूप बहुत से आर्यसमाजी बिरादरी से खारिज किए गए । इस प्रकार समाज सुधार के युद्ध में एक नया पर्व शुरू हुआ ।

यह तो थी घटना । लाहौर के ट्रिब्यून के सम्पादक को

इस पर एक मज़ाक सूझा। पहली अप्रैल के पर्चे में उस ने एक सनसनी पूर्ण समाचार बना कर प्रकाशित किया। समाचार का सारांश यह था,—जालन्धर से समाचार मिला है कि वहाँ की हिन्दू जनता रहतियों की शुद्धि से विक्षुब्ध हो कर आर्यसमाज के प्रधान लाला मुन्शीराम के मकान पर चढ़ गयी। उन को पकड़ लिया और समाज मन्दिर में घसीट ले गई। वहाँ जाकर लोगों ने उन्हें रस्सियों से बाँध दिया और समाज मन्दिर में जो पीपल का पेड़ है, उस से लटका दिया गया। इतनी कहानी लिख कर सम्पादक ने यह टिप्पणी दी कि लोग इतने भोले हैं कि यदि अप्रैल की पहली तारीख को उपर्युक्त समाचार प्रकाशित किया जाय तो उसे भी सत्य मान लेंगे। जब एक अप्रैल के प्रातःकाल ट्रिब्यून का पर्चा लोगों के हाथ में पहुँचा तो वे बड़ी दिलचस्पी से उस समाचार को पढ़ गए। हितैषी घबरा उठे और विरोधी बग़ल बजाने लगे, परन्तु अन्तिम पंक्तिएँ पढ़ने का शायद दो चार ने ही कष्ट उठाया हो। सारे लेख के अन्त में ए० एफ० (अप्रैल फूल) लिखा हुआ था। पाठक समझ सकते हैं कि इस सम्पादकीय हथकण्डे ने कितनी व्यापक हलचल पैदा की होगी। कई दिनों तक तार और पत्र आते रहे जिन सब के उत्तर पिता जी ने अपनी आदत के अनुसार अवश्य दिए होंगे। वे किसी पत्र को उत्तर दिए बिना नहीं छोड़ते थे।

समाज सुधार के इस आक्रमणात्मक कार्य को ट्रिब्यून के मज़ाक से प्रसिद्धि मिली और अख़बार पढ़ने वाले लोगों की जिह्वा पर पिताजी का नाम चढ़ने लगा।

मैंने अपने पूर्व संस्मरण में लिखा था कि पिताजी के दफ़्तर के रोशनदान हवेली के आँगन में खुलते थे। जब कभी दफ्तर या दफ्तर के बरामदे में जोर की बातचीत होती थी तो उस की भनक आँगन में पहुँच जाती थी। एक दिन की बात है कि आँगन में जोर-जोर से बोलने की आवाज सुनाई देने लगी; जिस से हम लोगों को दो से अधिक स्वर मिले हुए प्रतीत होते थे। दो स्वर तो पहचाने हुए थे। एक पिता जी का था, दूसरा हमारे मामा लाला देवराज जी का। बीच-बीच में एक तीसरा स्वर भी सुनाई देता था। तीनों के स्वर काफी ऊँचे और तेज़ थे, जिन से हम लोगों ने अनुमान लगाया कि कोई झगड़ा हो रहा है। पिताजी से कोई झगड़े, यह हम बच्चों के लिए नई बात थी। यूं तो सभी बच्चे छोटी उम्र में अपने पिताओं को संसार में सब से अधिक शक्तिशाली और समझदार मानते हैं (यद्यपि बड़ी उम्र में ज्ञानलवदुर्विदग्ध हो कर उन की सम्मति बदल जाती है) परन्तु हमारे लिए तो पिताजी का किसी से झगड़ना बहुत ही असाधारण चीज़ थी। वे घर में कभी किसी को गुस्से तक नहीं होते थे। यह जान कर कि कोई उन से झगड़ रहा है, हम दोनों भाई देखने

और खबर लाने के लिए भाग कर बाहर गए और बैठक में छुपकर सुनने लगे। हम ने जो कुछ सुना उस से उस समय इतना ही समझ में आया कि झगड़ा कन्या महाविद्यालय के सम्बन्ध में है और पिता जी और मामा जी के अतिरिक्त तीसरे सज्जन द्वाबा हाई स्कूल के हैडमास्टर, मास्टर लक्ष्मणदास जी हैं। पिता जी मास्टर लक्ष्मणदास जी का समर्थन कर रहे थे। मामा जी बहुत विक्षुब्ध थे और अन्त में मास्टर जी से यह कहते हुए चले गए कि खैर, तुमने मुझे यहाँ सब कुछ कह लिया, अब मैं तुम्हें कोट किशनचन्द में देख लूंगा !

शायद पाठकों को सब बातें समझने में आसानी हो यदि मैं कुछ थोड़ा सा वृत्तान्त अपने नानके (ननसाल) का सुना दूं। नाना जी जालन्धर के बहुत बड़े-शायद अपने समय में जालन्धर के सबसे बड़े रईस थे। रईसों के पास जो कुछ होता है, वह सब कुछ उन के पास था। शहर के बाहर उन की हवेली थी, जिस के साथ लगता हुआ 'कोट किशनचन्द' नाम का मुहल्ला था, उस के अधिकांश के मालिक वही थे। मैंने जब होश संभाला, तब हमारे तीन मामा विद्यमान थे। बड़े मामा देवराज जी को सारा देश कन्या महाविद्यालय जालन्धर के संस्थापक और जीवन पर्यन्त सञ्चालक के रूप में जानता है। दूसरे मामा रायजादा भगतराम जी थे, जो अपने समय में पञ्जाब के मूर्धन्य फौजदारी वकील समझे जाते थे। उन के बारे में यह

जनश्रुति मशहूर थी कि जब कोई जाट गांव की लड़ाई लड़ने के लिए घर से निकलता था और कोई हितैषी उसे यह कह कर रोकता था कि भाई लड़ो मत, किसी को मार दोगे तो फांसी चढ़ जाओगे, तो वह यह उत्तर देकर लड़ने चला जाता था कि कोई डर नहीं, जालन्धर जाकर भगतराम को वकील कर लेना, वह छुड़ा लेगा। मामा भगतरात जी बैरिस्टर थे।

तीसरे मामा हंसराज जी, पञ्जाब के प्रसिद्ध काँग्रेसी नेता हैं और बहुत वर्षों से केन्द्रीय संसद् के काँग्रेसी सदस्य हैं। सब से बड़े मामा मेरे होश से पहले स्वर्गवासी हो गए थे। इन चार भाइयों की एक ही बहिन थी और वह हम चार भाई बहिनों की माँ थी। मेरी स्मृति पर उन का कोई चिन्ह नहीं है। यह उस समय का दोष समझें या आकस्मिक दुर्घटना मानी जाय कि माता जी का कोई चित्र भी विद्यमान नहीं है। दादा जी के और नाना जी के चित्र तो हैं, इस लिए समय को अधिक दोष क्या दें अतः इसे आकस्मिक दुर्घटना समझ कर ही संतोष कर लेना उचित प्रतीत होता है।

इतना विषयान्तर कर के अब मैं उस घटना पर आता हूँ, जहाँ से मैंने बात शुरू की थी। पिता जी का और मामा जी का झगड़ा बहुत ही आश्चर्य में डालने वाला था, क्योंकि दोनों लगभग इकट्ठे ही आर्यसमाजी बने, इकट्ठे ही समाज की सेवा में संलग्न हुए, और कन्या महाविद्यालय का प्रारम्भ

भी दोनों के सम्मिलित प्रयत्न से ही हुआ। ऐसे साथियों में किन कारणों से मनमुटाव पैदा हुआ, इस प्रश्न का उत्तर देने का यह स्थान नहीं है। यहाँ तो केवल इतना ही बतलाना प्रसंगागत है कि पिता जी और मामा जी के परस्पर झगड़े से हम बच्चे बहुत ही खिन्न हुए थे क्योंकि उस के कारण हमारा कोट में भाभो जी (नानी जी) के पास जाना रुक सा गया था। सब परिवार वाले नानी जी को भाभो जी कहते थे। वे सब से बहुत प्यार करती थीं और सारा परिवार भी उन से बहुत प्यार करता था। हम लोगों के लिए कोट में सब से बड़ा आकर्षण उन्हीं का था।

मामा जी का पिता जी से उस समय जो मतभेद आरम्भ हुआ, वह समय के साथ अधिक विस्तृत और गहरा ही होता गया। यहाँ तक कि उन दोनों प्रारम्भिक साथियों के दृष्टिकोण प्रायः सभी व्यावहारिक विषयों में अलग-अलग हो गए। पिता जी के आगामी सामाजिक जीवन में बन्धुओं के इस मत-भेद का काफी प्रभाव दिखाई देता रहा।

इस परिच्छेद को मैं एक छोटी सी घटना के संस्मरण के साथ समाप्त करता हूँ। पारिवारिक बन्धनों को तोड़ कर समाज सेवा के खुले क्षेत्र में स्वतन्त्र घूमने के लिए जिस मान-सिक तैयारी की आवश्यकता थी, वह उस घटना से पूरी हो गई थी। हमारे घर पर एक विधवा विवाह हुआ। डाक्टर

गुरुदत्त जी (स्वामी आत्मानन्द मुमुक्षु) एक दृढ़ आर्य युवक थे और श्रीमती सुमित्रा ईसाइयों से आई हुई एक सुशिक्षित देवी थीं, जिन का दोष हिन्दू समाज की दृष्टि में इतना ही था कि वे विधवा थीं। उस समय विधवा विवाह हिन्दुओं के लिए ही नहीं आर्यसमाजियों के लिए भी एक नयी और साहसिक चीज़ थी। नयी और साहसिक चीज़ को कर डालना पिता जी का स्वभाव था। उन्होंने लड़की के पिता बन कर कोठी पर वैदिक रीति से डाक्टर गुरुदत्त जी का सुमित्रादेवी जी से विवाह करा दिया। इस विवाह का हमारे परिवार में घोर विरोध हुआ। सब से अधिक तीव्र विरोध हमारी तायी जी ने किया, जिन की धार्मिक भावनाओं को इस से भारी ठेस पहुँची। हमारे नानके (ननसाल) की ओर से भी इस विवाह का विरोध हुआ। इन दोनों विरोधों की पर्वाह न कर के पिता जी ने अपने घर पर विधवा-विवाह तो रचा दिया परन्तु तायी जी और अन्य सम्बन्धियों के व्यवहार से पिता जी के हृदय पर बहुत गहरी चोट लगी। उस चोट का क्या परिणाम हुआ—यह पाठक अगले संस्मरण में पढ़ेंगे।

—

मेरा अभिप्राय हम दोनों भाइयों से है) भी पिताजी के जीवन में उठती हुई लहरों पर, इधर से उधर और उधर से इधर घटनाचक्र के साथ घूमते रहे। उस समय तक हम केवल इतना ही जानते थे कि पिताजी घर में अनुपस्थित रहते हैं और उन्हें आर्यसमाज का काम अधिक रहता है। अब हम यह भी अनुभव करने लगे कि पिताजी घर को छोड़ते जाते हैं और किसी ऐसी दिशा में जा रहे हैं—जिधर हमारे समवयस्क अन्य बालकों के पिता नहीं जा रहे।

पिताजी के जीवन में क्रान्ति के बीज बहुत काल से बोये जा चुके थे। बरेली में ऋषि दयानन्द के दर्शनों ने क्रान्ति का जो बीज बोया, वह धीरे-धीरे अंकुरित हो कर पल्लवित हो रहा था। उस घटनाचक्र ने, जिस की अन्तिम सामाजिक घटना आर्य पथिक पं० लेखराम जी की मृत्यु के बाद आर्य समाज का महात्मा और कालिज पार्टियों में घरू संघर्ष का फिर से फूट पड़ना था और अन्तिम पारिवारिक घटना डा० गुरुदत्त जी का विवाह था, पिताजी के जीवन को एक दम नई धारा में डाल दिया। क्रान्ति का प्रवाह तीव्र हो गया, जिस की टक्कर से घर गिरस्थी की रिवाजी दीवारें धड़ाधड़ गिरने लगीं।

अब मैं संक्षेप में बाल्य स्मृति के उन टुकड़ों को पाठकों के सम्मुख रखता हूँ जो एक विशाल सर्वमेध यज्ञ की स्मृतियाँ

होती हुई भी उस समय हमारे लिए केवल छोटी-छोटी घट-नाएं थीं।

पिता जी प्रायः लाहौर जाते रहते थे। अधिकतर आर्य-समाज के काम से और कभी-कभी मुकद्दमों के प्रसङ्ग में लाहौर जाते थे तो दूसरे या तीसरे दिन वापिस आ जाते थे। वापिस आने की गाड़ी की सूचना जाते हुए दे जाते थे। ठीक समय पर घोड़ा-गाड़ी स्टेशन पर पहुंच जाती थी। पिता जी के घर आने की सूचना हम लोगों को अनायास ही मिल जाती थी, क्योंकि गाड़ी पर से उतार कर बिस्तर और यात्रा का अन्य सामान अन्दर लाया जाता था।

एक दिन हम लोग बहुत आश्चर्यित हो गए, क्योंकि पिता जी का सामान गाड़ी से उतार कर घर नहीं लाया गया। कोचवान ने अन्दर आकर कहा कि 'बाबू जी ने अपना सामान समाज-मन्दिर में ही उतरवा लिया है और कहा है कि घर पर जाकर खबर कर दो।' बाबू जी घर पर नहीं आये और समाज-मन्दिर में उतर गए हैं, इस समाचार ने घर भर में तहलका सा मचा दिया। तायी जी पहले तो स्तब्ध सी रह गईं, फिर पिता जी के इस कार्य के अनौचित्य पर काफी जोर-दार टिप्पणी करने लगीं। हम चारों बच्चे घबरा कर तायी जी के चारों ओर इकट्ठे हो गए, नौकर जिस का नाम रणुआ था, एक ओर खड़ा आँखों से आँसू बहा रहा था। हमारे ताया

जी, जो परिवार के मौनधारी सदस्य थे, कुछ समय पीछे हाथ में हुक्का लिए हुए ड्योढ़ी से घर के अन्दर आए और तायी जी को दिलासा देने लगे। जहाँ तक मुझे याद है उन के दिये हुए दिलासे का यह सारांश था कि 'मुन्शीराम हमेशा से ऐसा ही रहा है, जो दिल में आता है वही करता है। तुम चिन्ता न करो अपने आप घर आ जायगा।' परन्तु तायी जी घर के मामले में ऐसे वैराग्य से सन्तुष्ट होने वाली नहीं थीं। उन्हें यह सन्देह हुआ कि पिता जी किसी बात से नाराज़ हो कर घर में नहीं आ रहे हैं। कुछ समय के पश्चात् उन्होंने निश्चय किया कि समाज-मन्दिर में जाकर नाराजगी का कारण पूछा जाय। तायी जी का निश्चय हो जाने पर ताया जी के लिए कोई समस्या शेष न रही। उन्होंने अपना हुक्का ताजा कराया और चारपाई पर बैठ कर उस आनन्द का अनुभव करने लगे जिसे केवल अफ़ीम या हुक्के का भक्त ही कर सकता है।

तायी जी ने नौकर को आर्यसमाज-मन्दिर में यह पूछने के लिये भेजा कि हम लोग मिलने के लिये आना चाहते हैं कोई रुकावट तो नहीं है। मैं पहले बतला चुका हूँ कि हमारी कोठी और समाज-मन्दिर के बीच में केवल पक्की सड़क थी। रणुआ पाँच सात मिनट में ही लौट आया। वह उत्तर लाया कि मिलने में कोई रुकावट नहीं है। हम लोग तब तक तैयार हो चुके थे। तायी जी भी उस समय के रिवाज के अनुसार रेशमी घाघरा

पहिन और ओढ़नी ओढ़ कर आगे-आगे चलीं—हम चारों भाई, बहिन पीछे-पीछे कुछ घबराते हुए से चले और अन्त में हमारा नौकर रणुआ चला।

पिता जी समाज-मन्दिर के द्वार पर प्रतीक्षा कर रहे थे। वह गम्भीर मुद्रा में थे। तायी जी की घबराहट देख कर शान्त करते हुए प्रारम्भ में ही उन्होंने कहा—

'भाभी, मैंने लाहौर में प्रतिज्ञा कर ली है कि जब तक गुरुकुल बनाने के लिये ३० हज़ार रुपया इकट्ठा न कर लूंगा, तब तक घर में पैर नहीं रखूंगा। इसी कारण समाज में ठहरा हूँ, घबराने की कोई बात नहीं। भाय्या जी, (पिता जी ताया जी को भाय्या जी कहा करते थे) घर में हैं हीं। कोई चिन्ता मत करो।'

इस आश्वासन से तायी जी का मन थोड़ा बहुत शान्त हो गया और उन्हें शान्त देख कर हम लोग भी शान्त हो गये। यह सर्वमेध-यज्ञ का प्रथम चरण था।

पिता जी चन्दे के लिए देश भर में पर्यटन करने लगे। उन के पीछे सद्धर्मप्रचारक का सम्पादन लाला वजीरचन्द और प्रेस का प्रबन्ध लाला बस्तीराम करते थे। वकालत के मुन्शी उदयसिंह छुट्टी पर चले गए और घर की गाड़ी पुरानी लीक पर तायी जी के नेतृत्व में चलने लगी। घर वही था, परन्तु उस घर का मध्य भाग—बगोची, दफ्तर, बैठक और अतिथि-

गृह में सुनसान हो जाने से चारों ओर सन्नाटा प्रतीत होता था। बच्चों को बगीची में से गुजरते डर लगता था।

कुछ दिनों तक—शायद दो या तीन महीनों तक—ढर्रा यूं ही चलता रहा। उस के पश्चात् हम दोनों भाइयों के लिए पिता जी का आदेश आ गया कि 'हरीश और इन्द्र को गुजरांवाले की वैदिक पाठशाला में भेज दिया जाय।' इस आदेश से हम दोनों भाइयों की जीवनधारा का मार्ग सर्वथा बदल गया। इस समय हरिश्चन्द्र जी द्वाबा स्कूल की ७ वीं श्रेणी में पढ़ रहे थे और मैं छठी में पढ़ रहा था। हम दोनों स्कूल से उठा लिए गए, और एक सज्जन के साथ, जिन का नाम मैं इस समय भूल गया हूँ, गुजरांवाला भेज दिए गए।

गुजरांवाला की पाठशाला कुछ वर्ष पूर्व जालन्धर के आर्य-समाज-मन्दिर में खोली गई थी। वहाँ से आर्यप्रतिनिधि सभा की आज्ञा से वह गुजरांवाला ले जाई गई।

मेरे मन में उस पाठशाला की प्रारम्भिक स्मृतियाँ बहुत हरी हैं। गुजरांवाला के पहले दिन की अधिकतर बातें ऐसी याद हैं, जैसी कल हुई हों। पाठशाला एक मन्दिर के साथ वाले बाग में थी। सारी पाठशाला में छोटे बच्चे हम ही थे। पाठशाला के प्रधान अध्यापक तथा आचार्य गुरुवर पं० गंगादत्त जी महाराज थे, जिन्होंने हम दोनों का यज्ञोपवीत संस्कार जालन्धर में कराया था। बड़े छात्रों में से कुछ उल्लेखयोग्य

नाम निम्नलिखित हैं, पं० विष्णुमित्र जी, पं० नरदेव जी शास्त्री, पं० भगतराम जी डिगा निवासी, पं० दीनानाथ जी, नाम तो और भी याद हैं, परन्तु उन की स्मृति वहीं तक परिमित हैं। दृश्य परिवर्तन के साथ वे तिरोहित हो जाते हैं, इस कारण उन का उल्लेख सार्थक नहीं होगा। गुरुवर पं० गंगादत्त जी, पं० विष्णुमित्र जी, और पं० नरदेव जी की चर्चा भावी जीवन में आयेगी। पं० भगतराम जी आर्य समाज के उपदेशक बने और गुरुकुल में अध्यापक रूप में भी कुछ समय तक रहे। पं० दीनानाथ जी हमारे गाँव (तलवन) के पुरोहित या पंजाबी भाषा में–पाधे–थे (वे आज भी जीवित हैं)। विशेष रूप से उन का स्मरण रहने का कारण यह है कि वैदिक पाठशाला में पहुँचने पर संस्कृत का पहला पाठ उन्हीं से प्राप्त हुआ था। हम दोनों भाई चटाई उठा कर उन के पीछे-पीछे आश्रम के बाहर तालाब के किनारे पर गए, और वहाँ एक बुर्जी के नीचे चटाई बिछा कर बैठ गये। पं० दीनानाथ जी ने, जो तब विद्यार्थी थे, हमें निम्नलिखित श्लोक याद कराया—

आत्मानं यदि निन्दन्ति, स्वात्मानं स्वयमेव हि।
शरीरं यदि निन्दन्ति, सहायास्ते तदा मम॥

इस प्रकार मेरे जीवन के नए परिच्छेद की प्रथम पंक्ति पं० दीनानाथ जी के अध्यापकत्व में उपर्युक्त सुन्दरश्लोक के साथ लिखी जानी प्रारम्भ हुई।

—

नवां परिच्छेद

पुण्यभूमि में कैसे पहुँचे ?

शीत-ऋतु के अन्तिम दिन थे। सायंकाल के चार बजे के लगभग हम कोई एक दर्जन बच्चे पंजाब से आने वाली गाड़ी से हरिद्वार के स्टेशन पर उतरे। हम गुजरानवाला से पिता जी के साथ आए थे। जालन्धर से हमारी मण्डली में भंडारी शालिग्राम जी दो-तीन बच्चों को साथ ले कर सम्मिलित हो गए थे। स्टेशन पर आचार्य पं० गंगादत्त जी कई सज्जनों के साथ स्वागत के लिए आए हुए थे।

जब हम लोग स्टेशन पर उतर कर सामान के पास बैठे तो कुछ ईसाई पादरी और पादरिनें हमारे वेश से आकृष्ट हो कर वहां आ गये। सब बालकों ने धोती का एक छोर बांधा हुआ और एक छोर गले में डाला हुआ था। शरीर पर कुरता था और हाथ में एक-एक लाठी थी। वे हमें कुछ देर तक ध्यान से देखने और आपस में चर्चा करने के बाद पिता जी के पास जा कर पूछताछ करने लगे। हमें उन्होंने किसी मिशनरी संस्था के बालक समझा, और हम लोगों के स्वास्थ्य की प्रशंसा की।

स्टेशन से निकल कर एक जलूस बनाया गया। सब से आगे पिता जी और पं० गङ्गादत्त जी थे, उनके पीछे

महर्षि दयानन्द का बड़ा चित्र लिए एक सज्जन थे, जिनका नाम तोताराम था। उनके पीछे दो-दो की पंक्ति में हम लोग थे। स्टेशन से निकलते ही हम लोगों ने प्रार्थना के आठ मन्त्रों का उच्च स्वर से पाठ आरम्भ कर दिया, और निरन्तर करते रहे, जब तक जलूस कनखल से पार न हो गया। हम लोग स्टेशन से चल कर मायापुर के पुल से उतर कर कनखल के बाज़ार में पहुंचे, और सारे बाज़ार का चक्कर काटते हुए दक्ष के मन्दिर पर जा पहुंचे। इस सारे रास्ते में सब लोग निरन्तर वेद-मन्त्रों का उच्च स्वर से पाठ करते रहे। हरिद्वार और कनखल तब मुख्य रूप से यात्रियों और पण्डों के शहर थे, वे सनातन धर्म के गढ़ समझे जाते थे। अब तो धीरे-धीरे उनमें कुछ नवीनता का संचार हो गया है, पर उस समय तो वह सनातनता के स्तम्भ थे। ओम् के झंडे और वेद-मन्त्रों के खुले पाठ को वह बहुत ही आश्चर्य भरी दृष्टि से देख रहे थे। वे हम लोगों को किसी दूसरी दुनियां के प्राणी समझ कर विनोद अनुभव कर रहे थे। दक्ष का मन्दिर पार कर के हमने वेद-पाठियों का रूप छोड़ कर यात्रियों का रूप धारण कर लिया। हम गुज-रानवाला में ही सुन चुके थे कि हरिद्वार के समीप गंगा के उस पार कांगड़ी नामक ग्राम गुरुकुल के लिए दान में मिला है। हम लोग वहीं ले जाये जा रहे थे। बच्चों के लिए

सब कुछ नया था। दक्ष के मन्दिर से आगे चलते ही रास्ता गंगा की रेती में उतर गया जहां गोल पत्थरों और बालू के दो मील चौड़े नदी के स्तर पर दो-तीन पुल बने हुए थे। सूर्य अस्ताचल पर पहुंच चुका था और अन्धकार के साथ सर्दी आकाश से उतर रही थी। हम बालक नई दुनियां देखने की उत्सुकता से प्रेरित हो कर नंगे पांव उस पत्थर और बालू के मार्ग पर तेज़ गति से चले जा रहे थे।

अन्धकार बहुत देर तक न रहा। या तो पूर्णिमा थी, या प्रतिपदा, गङ्गा के स्तर से पार होते-होते आकाश में चांदनी छिटक गई, जिस के प्रकाश में हमें स्तर से आगे फैला हुआ घना जंगल और उसकी पृष्ठ-भूमि पर नीलगिरि के शिखर दिखाई दिए।

जंगल के कंटीले रास्तों से हम लोग आगे बढ़ते जा रहे थे कि इतने में पीछे से एक आवाज़ आई—

"प्रधान जी, हम तो रास्ता भूल गये। यह तो पगडंडी गुरुकुल की नहीं, यह तो कांगड़ी ग्राम की है।"

पिता जी गुरुकुल में प्रधान जी इस नाम से कहलाते थे, क्योंकि वे आर्यप्रतिनिधिसभा पंजाब के प्रधान रह चुके थे, और गुरुकुल में भी प्रधान थे।

यह सुन कर पिता जी ने कहा—"तब तो हमें कांगड़ी के नाले से हो कर जाना पड़ेगा, मग्घरसिंह से कहो कि

एक लालटेन ले कर आगे-आगे चले ।' मग्घरसिंह नाम हम लोगों के कानों को अजीब सा मालूम हुआ, हम सब बच्चे उस नाम पर मुस्कराए, थोड़ी देर में मग्घरसिंह मिस्त्री लालटेन हाथ में लटकाए आगे-आगे हुआ और तीर्थ-यात्रियों की लम्बी पंक्ति उस के पीछे खैरों के काँटों को रौंदती हुई चली ।

जिस समय वह निशा-यात्रा समाप्त हुई, आकाश में चाँदनी के धवल प्रकाश में जो सुन्दर दृश्य दिखाई दिया, वह अब तक भी भूला नहीं है । घने जङ्गल के बीचों-बीच कोई दो बीघे का मैदान साफ किया गया था । उस में एक ओर फूस के छप्परों की एक लम्बी पंक्ति थी, जो छात्रों के रहने का आश्रम स्थान था । उस के साथ समकोण बनाती हुई दूसरी छप्परों की पंक्ति में भोजन भण्डार था । उन के बीच के कोने में एक स्विस काटेज लगा हुआ था, जो प्रधान जी का दफ्तर भी था और रहने का स्थान भी । इन छप्परों से कुछ दूर दो छप्पर डाल कर गोशाला बनाई गई थी । यह फूस के छप्पर का डेरा उस खिली हुई चाँदनी में अद्भुत शोभा दिखा रहा था । हमें उस समय ऐसा अनुभव हुआ कि हम सचमुच स्वर्ग के किसी टुकड़े पर पहुँच गए हैं । वह गुरुकुल का प्रारम्भिक रूप था ।

गुजरानवाला शहर से चल कर हम लोग काँगड़ी ग्राम की शोभन भूमि पर कैसे पहुँच गए, इस का किस्सा सुनाने के

लिए मुझे थोड़ा सिंहावलोकन करना पड़ेगा।

मैं पहले बतला आया हूँ कि पिता जी यह प्रतिज्ञा कर के देश के दौरे पर निकल पड़े थे कि जब तक तीस हज़ार रुपये की राशि इकट्ठी न हो जाय तब तक घर वापस न जांयगे। आज तीस हज़ार रुपया इकट्ठा करना बच्चों का खेल मालूम होता है, परन्तु तब गुरुकुल के लिए तीस हज़ार की राशि एकत्र करना असम्भव सा प्रतीत होता था। जब हितैषियों ने पिता जी की प्रतिज्ञा सुनी तो यह समझा कि इस व्यक्ति का दिमाग फिर गया है। लोग यह भी नहीं जानते थे कि 'गुरुकुल' किस चिड़िया का नाम है। रुपया भी बहुत मंहगा था, परन्तु आर्य जनता को असाधारण हर्ष हुआ जब उन्हें सूचना मिली कि लगभग छः महीनों में दान की राशि तीस हज़ार से बढ़ गई है।

हम दोनों भाई तब गुजरानवाला के स्थायी गुरुकुल में पढ़ते थे। आर्य-प्रतिनिधि सभा ने गुजरानवाला की वैदिक पाठशाला को अस्थायी गुरुकुल के रूप में परिणित कर दिया था। वह संस्था शहर से लगे हुए एक मकान में थी। हम लोगों को चन्दे की राशि पूरी होने का समाचार गुजरानवाला गुरुकुल में ही मिला। इसी बीच में एक बार हमारे ताया जी गुजरानवाला आए और दोनों भाइयों को लाहौर ले गए। गुरुकुल के चन्दे का दौरा लगभग समाप्त कर के पिता जी

लाहौर के आर्य होटल में ठहरे हुए थे । हम दोनों भाई उस रात जीवन में पहली बार अपने पिता जी के दोनों ओर चारपाइयों पर सोए । उस रात सोने से पहले पिता जी हमारी चारपाइयों पर आए और प्रत्यक्ष में प्यार किया । वह अनुभव हमारे बाल्य जीवन में बिल्कुल अपूर्व था । अन्यथा सदा पिता जी हम से दूर-दूर रह कर वात्सल्यभाव रखते रहे । कभी उसे अनुभाव में नहीं आने दिया । उस रात उन्होंने प्रेम से हम दोनों के सिरों को चूमा । हम दोनों भाइयों ने उस समय मानों स्वर्गीय सुख का अनुभव किया ।

अगले दिन हम लोग गुजरानवाला वापिस भेज दिए गए और पिता जी प्रतिज्ञा पूरी करके अपने घर वापिस आ गए । जालन्धर में उन का अभूतपूर्व स्वागत हुआ । उस के पश्चात् उन्होंने कोठी में प्रवेश किया परन्तु वह प्रवेश त्याग के लिए था भोग के लिए नहीं । त्याग की ओर उन की प्रवृत्ति तो पहले ही बढ़ रही थी । सिगरेट, हुक्का और पान तक एक के पीछे दूसरा विदा हो चुके थे । कोट, पैन्ट और नक्टाई उन लोगों में बाँट दिए गए थे, जिन्हें उन की आवश्यकता थी । और बूट की जगह गामाशाही जूता आ गया था । यह कायापलट गुरुकुल काँगड़ी में जाने से पहले ही हो चुका था । हमारे नाना रायसाहिब सालिगराम जी पुराने ढंग के रईस थे । व्यवहार में बहुत उदार परन्तु विचारों में बिल्कुल कन्ज-

वेंटिव थे । कन्जर्वेटिव शब्द का प्रयोग मैंने जान-बूझ कर किया है । अनुदार, सनातनी, दकियानूसी शब्दों में से कोई भी उन पर ठीक नहीं लगता था । काया-पलट के पहले अध्याय के समाप्त होने पर पिता जी हाथ में लोटा ले कर और पैर में जूता पहिन कर, प्रातःकाल के समय घर से दूर जङ्गल में शौचार्थ जाने लगे थे । उन का रास्ता हमारी ननसाल के सामने से हो कर गुजरता था एक दिन पिता जी को नाना जी ने उस बाने में देख लिया । सुनते हैं, उस दिन नाना जी की आँखों से आंसू बह निकले थे । उन्होंने दुखी हो कर कहा— 'की करिए, मुण्डा साधु हो गया' (क्या करें, लड़का साधु हो गया) ।

उन्ही दिनों पिता जी को बिजनौर जिले से सन्देश प्राप्त हुआ कि वहाँ के एक जमींदार मुंशी अमनसिंह जी गंगा पार का एक पूरा गाँव, जिस के साथ लगभग ७०० बीघे जमीन है, गुरुकुल बनाने के लिए देना चाहते हैं । प्यासे को मानो पानी का ठंडा स्रोत मिल गया । पिता जी तो ऐसी भूमि की तलाश में ही थे । वह तुरन्त बिजनौर गए और आर्य-प्रतिनिधि सभा के नाम काँगड़ी ग्राम रजिस्ट्री करवा लिया ।

गांव गङ्गा की धार से लगभग डेढ़ मील की दूरी पर शिवालक पहाड़ की तलहटी में था । गांव के साथ लगी हुई

भूमि पहाड़ की तलैटी से लेकर गंगा तट तक फैली हुई थी। पिता जी को गुरुकुल के लिये वह स्थान आदर्श प्रतीत हुआ। गांव से दूर ठीक गंगा तट पर घने और कंटीले जंगल के मध्य में लगभग दो बीघा जमीन के टुकड़े को साफ करा कर उस में आश्रम के लिये छप्पर डालना थोड़े ही दिनों का काम था, विशेषतः जब कि पिता जी जैसा धुन का पक्का और अनथक आदमी उस कार्य को शीघ्र पूरा करने पर तुल गया हो।

जब छप्पर तैयार हो गए, और पं० गंगादत्त जी आचार्य के रूप में बच्चों को संभालने के लिए गुरुकुल कांगड़ी पहुंच गए, तब आर्य प्रतिनिधि सभा की अनुमति से पिता जी गुजरान वाला आए, और लगभग दर्जन भर बालकों को साथ लेकर लाहौर ठहरते हुए हरिद्वार की ओर रवाना हो गए।

यह था हमारे गुरुकुलीय जीवन का आरम्भ। पुण्यभूमि में पहुंच कर हमने क्या देखा, यह मैं पहले बतला ही चुका हूं।

—

दसवां परिच्छेद

गुरुकुल के वे स्वर्णीय दिन

प्रायः सभी राष्ट्र अपने भूत काल को स्वर्णयुग के नाम से पुकारते हैं। सभी व्यक्ति पूर्व पुरुषाओं पर मान करते हैं और

सभी जातियाँ अपने गुजरे हुए इतिहास से जीवन का पाठ पढ़ती हैं। इस सचाई का मनोवैज्ञानिक कारण क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर किसी तत्वज्ञान के पण्डित को देना चाहिये। मैं तो इस सचाई को केवल इस कारण दुहरा रहा हूं कि मेरी गुरुकुल कांगड़ी सम्बन्धी प्रारम्भिक स्मृतियां इस सचाई की दृष्टान्तरूप हैं।

उस समय गुरुकुल काँगड़ी में केवल फूंस के छप्पर थे। गुरुकुल के उद्घाटन के पश्चात् एक वर्ष के अन्दर कच्ची दीवारों और टीन के छतों वाले शेड बनने आरम्भ हो गए थे। हमारे रहने का स्थान खैर और बेरी के घने जंगलों से घिरा हुआ था। कहीं-कहीं बिल्व के पेड़ थे। जिन लोगों ने पुरानी गुरुकुल भूमि को देखा है, उन्हें मालूम है कि इन तीनों प्रकार के पेड़ों की बहुतायत के कारण वह जंगल वस्तुतः "कण्टकाकीर्ण" शब्द का अधिकारी था। नीचे कांटे, ऊपर कांटे और चारों ओर कांटे—इस प्रकार वह जंगल कण्टकमय था, रहने के स्थान से दस कदम बाहर जाने के लिये कांटेदार पगडंडियों को पार करना पड़ता था। रात को जब अंधेरे का राज्य हो जाता था, तब कभी-कभी हमारे आश्रम के आंगन में और प्रधान जी (मुख्याधिष्ठाता जी) के तम्बू की छतरी के नीचे स्यारों का हुंकार सुनाई देता था। किसी-किसी दिन यह समाचार भी मिल जाता था कि कल रात को किसी कुत्ते

या लवारे को गुलदार (छोटा शेर) उठा ले गया। स्नान के लिए सिर्फ गंगा की धारा थी और क्रीड़ा क्षेत्र का काम गंगातट की बालू से लिया जाता था। ऐसी दुनियां में हम रहते थे, परन्तु आज भी लगभग पचास वर्ष बीत जाने पर मैं उन दिनों का स्मरण करता हूँ तो वह बहुत ही सुन्दर और सुखमय प्रतीत होते हैं। गुरुकुल में बहुत से परिवर्तन आते रहे। इमारत के रूप में परिणित हो गये, पगडण्डियों का स्थान सड़कों ने ले लिया, स्नान के लिए स्नानागार बन गए और गुरुकुल की इमारतें, बगीचों और हरे मैदानों से घिर गईं तो भी यह ध्यान में नहीं आता कि गुरुकुल में हमने उतना आनन्द अनुभव किया हो, जितना उस प्रारम्भिक काल किया था।

पहले उन दिनों की दिनचर्या सुनिए—प्रातः काल चार साढ़े चार बजे दिन की पहली घँटी बजती थी। उस पर सब ब्रह्मचारी या तो स्वयं ही उठ जाते थे, अथवा अधिष्ठाताओं द्वारा उठा दिए जाते थे। उठ कर बिस्तर लपेटते, उसे यथा-स्थान रखते और फिर बाहर जाकर मुंह हाथ धोते, और प्रार्थना के लिए एकत्र हो जाते। प्रार्थना "विश्वानि देव" आदि आठ मन्त्रों से की जाती थी। उस के पश्चात् अधिष्ठा-ताओं के साथ शौच आदि से निवृत्त होने के लिए जंगल में चले जाते थे। हमारे अधिष्ठाता आचार्य गंगादत्त जी थे,

जिन्हें हम उन दिनों 'बड़े पण्डित जी' कहते थ । इन संस्मरणों में जहाँ कहीं बड़े पण्डित लिखा जाय, वहाँ आचार्य जी का ही ग्रहण करना चाहिए । पहिली श्रेणी के अधिष्ठाता पं. विष्णुमित्र जी थे, जो 'छोटे पण्डित जी कहलाते थे । प्रातः काल जब बड़े पण्डित जी के साथ हम लोग जङ्गल को जाया करते थे तब हम में से हरेक के पास निम्नलिखित सामान होता था—दाएं हाथ में दण्ड, बाएं हाथ में पानी से भरा हुआ लोटा और बगल में लिपटा हुआ जांघिया और धोती । अधिष्ठाता के कपड़े प्रायः सब से बड़े ब्रह्मचारी को ले जाने होते थे । यह कार्य प्रायः मेरे बड़े भाई हरिश्चन्द्र जी किया करते थे, क्योंकि वे ही हम सब में बड़े थे ।

नंगे पाँव पगडण्डियों से हो कर जंगल में जा कर निवृत्त होते थे । प्रत्येक ब्रह्मचारी दण्ड की सहायता से अपने लिए दातुन तोड़ता था । फिर सब मिल कर गंगा पर चले जाते थे । गंगा की वह धारा जो गुरुकुल भूमि के साथ बहती थी, नीलधारा कहलाती थी । उस का पानी बहुत शुद्ध माना जाता था क्योंकि वह हरिद्वार की बस्ती के प्रवाह से बच कर चण्डी की पहाड़ी के नीचे से निकलता हुआ, गुरुकुल के पास से गुजरता था । वह वस्तुतः गंगा की छोटी धारा थी । बड़ी धारा वहां से लगभग एक मील दूर थी, जहां हम लोग कभी-कभी स्नान के लिये जाया करते थे ।

महात्मा मुन्शीराम जी

गंगा तट पर पहुंच कर हाथ मुंह धोते और लौटे साफ करते थे। उस के पश्चात् या तो रेत में कबड्डी खेलते, और डण्ड बैठक करते थे अथवा वर्षा ऋतु होने पर अखाड़े में कुश्ती लड़ते थे। व्यायाम हमारी दिनचर्या का मुख्य भाग था। दोनों समय व्यायाम होता था। दो-दो सौ दण्ड बैठक निकालना साधारण बात थी। व्यायाम का कार्यक्रम लगभग एक घण्टा तक चलता था।

इस कार्यक्रम में विशेष रुचि का यह भी कारण था कि अधिष्ठाता लोग स्वयं भी व्यायाम में पूरा हिस्सा लेते थे। आचार्य गंगादत्त जी तो व्यायाम के बहुत ही पक्षपाती थे। और किसी काम से छुट्टी मिल सकती थी परन्तु उन के प्रबन्ध में व्यायाम से छुटकारा पाना कठिन था। वह व्यायाम के सम्बन्ध में प्रायः निम्नलिखित श्लोक कहा करते थे।

व्यायामक्षुण्णगात्रस्य पद्भ्यामभ्यर्दितस्य च,
व्याधयो नोपसर्पन्ति, पन्नगारेरिवोरगाः।

जिस मनुष्य का शरीर व्यायाम से थकाया गया है और जिसे पैरों के नीचे मसला गया है, उस के पास रोग इस प्रकार नहीं आते जिस प्रकार गरुड़ के पास सर्प नहीं आते।

वह स्वयं अपने लिए इसी सिद्धान्त का पालन करते थे। बीमारी में भी, और वे उन दिनों बहुत कम बीमार होते थे, कुछ न कुछ व्यायाम किया करते थे। हम लोग भी बुखार

या अपच जैसे साधारण रोगों में व्यायाम से मुक्त नहीं किए जाते थे। कुश्ती न सही तो दण्ड-बैठक ही सही, वह भी न हो सके तो कबड्डी ही सही, व्यायाम से पूरी छुट्टी मिलना असम्भव था।

व्यायाम के पश्चात् लगभग आध घंटा विश्राम होता था। इसी विश्राम में दातुन भी कर डालते थे। स्नान का समय विशेष आनन्द का होता था। अत्यन्त सर्दियों को छोड़ कर शेष सब मौसमों में हम लोग गङ्गा का पूरा आनन्द लेते थे। हमारे उस समय के सभी अभिभावक—प्रधान जी, बड़े पण्डित जी और शेष सब कार्यकर्ता—तैरना जानते थे और सब बच्चों को तैरना सिखाना आवश्यक समझते थे। गुरुकुल काँगड़ी में तैराकी के जो प्रबल संस्कार अब तक भी चले आ रहे हैं, उन का प्रारम्भ वहीं से है। उस के पश्चात् यज्ञशाला में आ कर सन्ध्या और हवन से निवृत्त होते थे। इस समय तक दिन अच्छी तरह चढ़ जाता था। हवन के पश्चात् प्रायः प्रतिदिन प्रधान जी यज्ञशाला में ही उपदेश देते थे। वह उपदेश इतने क्रियात्मक और सरल होते थे कि अब तक उन में से बहुत सों की रूपरेखा हमें स्मरण है।

उपदेश के बाद दूध की घंटी बजती थी, प्रत्येक ब्रह्मचारी को लगभग आध सेर दूध दिया जाता था, साथ कुछ नाश्ता भी मिलता था। व्यायाम से शरीर थक चुकने के पश्चात् यह

प्रातराश कुछ अधिक प्रतीत नहीं होता था । प्रातराश हो जाने पर पढ़ाई के लिए बैठते थे । प्रातःकाल का समय मूल अष्टाध्यायी याद करने और उस की वृत्ति आदि पढ़ने में व्यतीत होता था । हम लोगों को बड़े पण्डित जी ही व्याकरण पढ़ाते थे । अष्टाध्यायी, काशिका और महाभाष्य के वे पूरे पण्डित थे । प्रातःकाल की पढ़ाई प्रायः खाने की घंटी के साथ समाप्त होती थी । भंडारी सालिगराम जी स्वयं हाथ में घंटी बजाने की लकड़ी ले कर भंडार से निकलते थे । घंटी बजाते जाते थे और ज़ोर की आवाज़ से यह घोषणा करते जाते थे, कि 'ब्रह्मचारियो, जल्दी खाना खाओ ।' अपना-अपना लोटा ले कर सब ब्रह्मचारी पंक्ति में आसनों पर बैठ जाते थे । खाना परोसने का कार्य भंडारी और अधिष्ठाता लोग मिल कर करते थे । भोजन के आरम्भ में 'सहनाववतु' वाला मन्त्र बोला जाता जा ।

जिस दिन विशेष भोजन के तौर पर खीर बनती थी, उस दिन खीर को ठंडा होने का अवसर देने के लिए 'ओ३म् द्यौ शान्तिः' इत्यादि मन्त्र बोला जाता था । किसी-किसी दिन प्रधान जी स्वयं भोजन परोसने आ जाते थे, उस दिन यह मान लिया जाता था कि आज भंडारी का दिवाला निकालना चाहिए, जिस का अभिप्राय यह था कि गुंधा हुआ आटा समाप्त हो जाना चाहिए । ज्यों ही यह घोषणा होती थी

भंडारी जी को दूसरी वार आटा गुंधवाना पड़ा है तो ब्रह्मचारी तालियां बजाते और हँसते थे। खूब खाओ और खूब व्यायाम करो, यह उस समय का मूल मन्त्र था। उन दिनों गुरुकुल में कोई डाक्टर नहीं था, न कोई वैद्य ही था। जुकाम, खाँसी और बुखार जैसी बीमारियों को व्यायाम के जोर से और कब्ज जैसी शिकायतों को अधिक भोजन की सहायता से मिटाने का यत्न किया जाता था। उन दिनों और आजकल के सामान्य स्वास्थ्य तो देखते हुए यह मानना कठिन है कि उस समय की अर्वाचीनता से शून्य चिकित्साप्रणाली सर्वथा बुरी थी, कम-से-कम परिणाम बुरा नहीं।

भोजन के पश्चात् कुछ विश्राम ले कर ब्रह्मचारी पढ़ाई में लग जाते थे। उस समय संस्कृत साहित्य, इतिहास और वस्तु पाठ का शिक्षण होता था। अन्तिम दोनों विषयों का अध्यापन मास्टर सुन्दरसिंह जी करते थे। मास्टर जी अपने ढङ्ग के अनोखे शिक्षक थे। बात-चीत और कहानियों में ही बहुत सी बातें सिखा देते थे। उन के विद्यार्थी उन्हें प्रायः 'मां', इस नाम से पुकारते थे और वे उन्हें बच्चों की तरह प्यार करते थे। जहाँ तक मुझे स्मरण है, छात्रों में स्पर्श थ्योरी के उद्भावक और उपरने ले कर कबड्डी खेलने के आविष्कारक मास्टर जी थे।

शाम को फिर प्रातःकाल की तरह जङ्गल जाने, व्यायाम करने और मौसम अनुकूल होने पर स्नान करने का क्रम शुरू हो

जाता था। सन्ध्या-हवन के पश्चात् भोजन होता था, फिर थोड़ा सा टहल कर ब्रह्मचारी दियों की रोशनी में अष्टाध्यायी का पाठ दोहराने के लिए बैठ जाते थे। कई वर्षों तक गुरुकुल में सरसों के तेल के दिए ही जलते रहे। उस जङ्गली गुरुकुल को वर्तमान शहरी गुरुकुल के रूप में परिणित करने के लिए जो अनेक क्रान्तिएँ हुईं, उन में से एक यह भी थी कि सरसों के तेल का स्थान मिट्टी के तेल ने ले लिया। उन क्रान्तियों की कहानी अगले संस्मरणों में सुनाऊँगा। यहाँ तो केवल इतना लिख कर ही दिनचर्या के प्रसङ्ग को समाप्त करता हूँ कि रात के लगभग ९ बजे फिर प्रार्थना होती थी। दिए बढ़ा दिए जाते थे और सारा गुरुकुल स्तब्धता में लीन हो जाता। केवल एक चौकीदार पहरा देता था और घंटे की टंकोर से समय की सूचना देता रहता था।

—

ग्यारहवाँ परिच्छेद

उस जीवन के सुख-दुःख

यह थी गुरुकुल के उस युग की दिनचर्या। शिक्षा पद्धति के प्राचीन या अर्वाचीन सिद्धान्तों की कसौटी पर यहां मैं कोई सम्मति नहीं देना चाहता। इस समय तो मैं संस्मरणों

का संग्रह कर रहा हूं, इस कारण इतना ही कह सकता हूं कि स्मृति को टटोलने से वह समय बहुत ही मधुर प्रतीत होता है।

उस समय घर या कुल की भावना बहुत प्रबल थी। थोड़े से ब्रह्मचारी थे। प्रधान जी और बड़े पंडित जी उन सभी को नाम से जानते थे, और दिन में कई वार मिलते थे। व्यायाम के समय, हवन और उपदेश के समय, भोजन के और सायंकाल को खेल के समय प्रायः सभी कुलवासी इकट्ठे हो जाते थे। एक दूसरे के सुख दुःखों की सभी को खबर रहती थी। सब इकट्ठे ही हंसते थे और इकट्ठे ही रोते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी शिक्षण-संस्था में कुल की भावना और छात्रों की परिमित संख्या का गहरा सम्बन्ध है। परन्तु यह स्मृति की चीज नहीं, विचार की चीज़ है। इस कारण इतना ही इशारा दे कर आगे चलता हूं।

उन दिनों हमारे छुट्टी के दिन कैसे बीतते थे, यह बता कर पाठकों को अपने आमोद का साझीदार बनाना भी आवश्यक मालूम होता है। सो किसी एक अनध्याय के दिन का पूरा विवरण सुन लीजिए। उस दिन सुबह की घंटी कुछ देर से बजती थी। प्रति दिन साढ़े चार बजे उठ कर नंगे पांव खैर के जंगल में निवृत्त हो जाने वाले बालकों को आधे या पूरे घंटे की फालतू नींद कितनी आनन्द देने वाली होती होगी,

इस का प्रत्येक पाठक अनुमान लगा सकता है। छुट्टी के दिन व्यायाम के समय तेल की मालिश होती थी। स्नान आदि सब कार्यों में प्रति दिन की अपेक्षा अधिक समय लगाने का अधिकार मिल जाता था। हवन के उपरान्त का कार्यक्रम मौसम के अनुसार बनता था। गर्मियों के दिनों में सब ब्रह्मचारी अधिष्ठाताओं के साथ प्रातः 'प्याल' खाने के लिए जाते थे। उस से हम लोग कितना आनन्द अनुभव करते थे, इस की कल्पना तभी हो सकती है, जब पाठक 'प्याल खाने जाना' इस परिभाषा का पूरा अर्थ समझ जांय। पुण्य भूमि (गुरुकुल कांगड़ी की पुरानी भूमि) को जिन लोगों ने देखा है, वह जानते हैं कि गुरुकुल से लगभग छः फर्लाङ्ग की दूरी पर शिवालक के पहाड़ों की शृङ्खला है जो एक ओर मंसूरी और दूसरी ओर नैनीताल के ऊंचे पर्वतों को मिलाती है। गुरुकुल के पास से शिवालक की जो माला गुजरती है वह न बहुत हरी है, न बहुत खुश्क। कोई हिस्सा हरयाली से लदा हुआ है तो कोई बिल्कुल नंगा। इन पहाड़ियों के खुश्क हिस्सों में एक फल होता है, जिसे प्याल कहते हैं। वह काश्मीरी गिलास के आकार का जामुनी रंग का, खटमिठ्ठा फल होता है। प्याल के पेड़ बहुत बड़े नहीं होते। यह फल गर्मियों में लगता है। अनध्याय के दिन खूब तड़के हम लोग पहाड़ की ओर रवाना हो जाते थे। उस समय हम लोगों में तेज चलने और फुर्ती से पहाड़ पर

चढ़नें की प्रतिस्पर्धा सी हो जाती थी। अनुभव ने हमें बतला दिया था कि पहाड़ के किस भाग में और किस पेड़ पर मीठे और बड़े प्याल लगते हैं। ब्रह्मचारी कांटों और पत्थरों को नंगे पैरों से कुचलते हुए पर्वत की चोटी पर एक दूसरे से पहले पहुंचने का यत्न करते थे, दो तीन घण्टे तक सब लोग बाहुबल से प्राप्त किए हुए इस प्याल सहभोज का आनन्द लेते थे, और दोपहर होते-होते गुरुकुल वापस आ जाते थे।

वर्षा ऋतु में प्याल समाप्त हो जाते थे और गङ्गा भर जाती थी, तब अनध्याय के दिन दो में से एक कार्यक्रम रहता था। यदि गङ्गा का जल अधिक मैला न हुआ तो भोजन से पहिले का समय तैरने में व्यतीत होता था। बड़े ब्रह्मचारी प्रायः गुरुकुल से दो ढाई मील ऊपर जा कर चंडी की पहाड़ी के नीचे से गङ्गा में कूदते थे और पानी ही पानी में गुरुकुल तक आते थे। उन दिनों गुरुकुल में जो ब्रह्मचारी पढ़ते थे, उन में से शायद ही कोई ऐसा हो, जो बहुत अच्छा तैराक न हो। पानी, जंगल और पहाड़ के खतरों को खतरे न समझना उस समय के गुरुकुलीय जीवन का एक स्वभाव-सिद्ध अङ्ग था।

जिस अनध्याय के दिन गंगा का जल बहुत मैला हो उस दिन कबड्डी या क्रीकेट का खेल हुआ करता था। उस समय की बड़ी विशेषता यह थी कि प्रायः प्रत्येक खेल में

पिता जी (प्रधान जी) बच्चों को प्रोत्साहित करने के लिए स्वयं विद्यमान रहते थे। लगभग सात वर्ष तक गुरुकुल काँगड़ी में क्रिकेट युग रहा। जब पिता जी कालेज में शिक्षा पाते थे, तब भारत के कालेजों में अंग्रेजों की राष्ट्रिय खेल क्रिकेट को ही सर्वोत्कृष्ट माना जाता था। पिता जी प्रायः हमें इस अंग्रेजी कहावत की व्याख्या कर के सुनाया करते थे कि वाटरलू की लड़ाई क्रिकेट के क्रीड़ाक्षेत्र में ही जीती गई थी। लार्ड विलिंगटन ने पूरे जोर से लड़ना और हार कर भी हार न मानना और हार में से जीत निकाल लेना क्रिकेट के खेल में से ही सीखा था। पिता जी छात्रों में यही भावना भरने के लिए क्रिकेट के खेल पर अधिक बल दिया करते थे।

सर्दियों में अनध्याय के दिन रस का प्रोग्राम रहता था। रस से मेरा अभिप्राय ईख के रस से है। आस-पास के गाँवों के कई जगह कोल्हू चलते थे। प्रातःकाल अन्धेरे में ताँगे (बैलगाड़ी) द्वारा बैठने के आसन या दरी, बलटोही में दूध, अदरक, गिलास आदि बर्तन तथा अन्य आवश्यक चीजें कोल्हू पर भेज दी जाती थीं। हवन के पश्चात् सब ब्रह्मचारी, प्रधान जी और बड़े पण्डित जी के साथ दो-दो की पंक्ति में गुरुकुल से चलते थे। यदि रास्ते में कोई गाँव आ गया तो उस में से प्रायः मन्त्र बोलते हुए निकलते थे। कोल्हू में गन्नों के साथ-साथ अदरक भी लगाया जाता था। रस में दूध मिला कर

भर पेट पीते थे। पीने में प्रायः होड़ हो जाती थी, इसलिए रस आवश्यकता से अधिक ही पिया जाता था। उसे पचाने के लिए घंटा डेढ़ घंटा जोरदार कबड्डी होती थी। यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि काँगड़ी में साल भर बाद ही कबड्डी में छूने के लिए उपर्ने का प्रयोग छूट गया था क्योंकि उस प्रयोग के आविष्कारक मास्टर सुन्दरसिंह जी पहले ही वर्ष काँगड़ी गुरुकुल छोड़ कर चले गए थे।

ऐसी थी हमारी निश्चित अनध्याय की ऋतुचर्या। उस युग में अनिश्चित या आकस्मिक अनध्यायों की संख्या भी पर्याप्त थी। कम-से-कम निश्चित तो थी ही नहीं। जिस दिन परोसने वालों और खाने वालों की हिम्मत से भण्डारी जी के आटे का दिवाला निकल जाता था, उस दिन खाना पचाने के लिए छुट्टी आवश्यक हो जाती थी। या तो कहीं दूर की यात्रा का प्रोग्राम बन जाता था अथवा दो घंटों तक डट कर कबड्डी होती थी। गर्मियों में बादल आ गए तो मनोहर दिन की छुट्टी, सर्दियों में वर्षा हो गई तो दुर्दिन की छुट्टी। सारांश यह कि जब प्रकृति ऋतु के विरुद्ध चोला पहनती थी तो हमारा अनध्याय होता था। संस्कृत का यह न्याय हम लोगों ने याद कर रखा था—अनध्यायप्रियाश्छात्राः—हमें विश्वास था कि न्याय के अनुसार जब विद्यार्थियों को छुट्टी से प्रेम होना चाहिए, अतः हम जितनी छुट्टी माँगें उचित ही है। यह

लिखना मैं भूल गया कि उन दिनों हमारे निश्चित अनध्याय पूर्णिमा, अमावास्या और अष्टमी के दिन होते थे, इतवार के दिन नहीं।

अनध्यायों में शहर की ओर जाना उस समय गुरुकुल के निमन्त्रण के सर्वथा विरुद्ध था। यदि मैं कुछ भूल नहीं करता तो कह सकता हूं कि काँगड़ी में पहुंचने के पश्चात् कम-से-कम पाँच वर्ष तक हम ब्रह्मचारियों ने गंगा का पुल पार कर के कनखल में पाँव नहीं रखा था। एक वार कुम्भ का मेला आया था। हमारी बहुत उत्सुकता देख कर प्रधान जी हमें चांडी की पहाड़ियों के नीचे घुमाने के लिए ले गए थे। वहाँ से गङ्गा की कई धाराओं के पार कुम्भ का जमघट दिखाई देता था।

हमारे उन दिनों के गुरुकुलीय जीवन का चित्र अधूरा रहेगा यदि मैं अपनी वार्षिक उत्सव के दिनों की दिन-चर्या का वर्णन न करूँ। उत्सव से दो-तीन दिन पूर्व हम लोगों को नई रंगी हुई पीली धोतियाँ बाँट दी जाती थीं। वह हमारा उत्सव के दिनों का निश्चित वेश था। आम तौर पर पढ़ाई के समय भी हम यही वेश पहनते थे। उत्सव के दिनों में तो सारा दिन यही वेष रखना पड़ता था। कोई ब्रह्मचारी अधि-ष्ठाता के बिना न अपने संरक्षकों से मिल सकता और न उत्सव की ओर जा सकता था। संरक्षक से मिलने के लिए भी आश्रम

के पीछे तम्बू लगाए जाते थे। मिलने के समय अधिष्ठाता प्रायः साथ रहता था। दोपहर के समय दर्शकों को (केवल पुरुषों को) आश्रम देखने की आज्ञा मिलती थी। उस समय हमें अत्यन्त सावधान हो कर अपने-अपने तख्त पर बैठना पड़ता था। कोई पुस्तक, अष्टाध्यायी या महाभाष्य खोल कर सामने रख लेते थे और खिड़की के रास्ते बाहर की ओर देखने का यत्न करते थे। भक्ति से प्रेरित दर्शक लोग आश्रम के कमरे में आते थे और प्रायः निम्नलिखित रूप से बात किया करते—

'आहिस्ता-आहिस्ता चलो, ब्रह्मचारी जी पढ़ रहे हैं।'

'दूसरा कहता, 'नहीं ध्यान में हैं।'

तीसरा आगे बढ़ कर यह देखने का यत्न करता कि कौन सी पुस्तक पढ़ रहे हैं। और कहता, 'महाभाष्य है ?'

ब्रह्मचारी इस प्रकार की बातें सुनते जाते और घड़ियाँ गिन-गिन कर वह दो घंटे समाप्त करते थे।

एक दिन दोपहर बाद स्त्रियों के गुरुकुल देखने का समय रखा जाता था। उस दिन हमें गुरुकुल से विदा होना पड़ता था, उस युग में सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में लिखित नियम की ऐसी ही व्याख्या की जाती थी। हम लोग भोजन से पूर्व ही बड़ी गङ्गा के किनारे किसी छायादार झाड़ी में जा कर डेरा जमा लेते थे। भंडार में तैयार हो कर भोजन बँहगियों पर वहीं पहुँच जाता था। वहाँ श्लोकों और सूत्रों की अन्त्याक्षरी

होती थी, व्याकरण और न्याय के शास्त्रार्थ होते थे और शाम को खेलें होती थीं। जब हम लोग आश्रम में वापस आते थे, तब तक महिलाएँ गुरुकुल देख कर जा चुकी होती थीं। उत्सव के समय मंडप मे ब्रह्मचारियों को इस अन्दाज से बिठाया जाता था, कि उन की पीठ स्त्रियों की ओर रहे।

उस युग में समय-समय पर बाहर से आने वाले महानुभावों में से, जिन की स्मृति मेरे मन पर अङ्कित है, प्रमुख, लाला रामकृष्ण जी प्रधान, प्रतिनिधि सभा पञ्जाब, पं. शिवशङ्कर जी काव्यतीर्थ, पं आर्यमुनि जी दर्शन भाष्यकार, रायसाहब केदारनाथ एम. ए. आदि थे। इन महानुभावों का अपने-अपने स्थान पर प्रसङ्ग आयगा, अधिक चर्चा वहीं की जायगी।

यह मैंने उस समय के गुरुकुलीय जीवन का एक सरसरी सा स्मृति-चित्र खींचा है। उस समय के जीवन में सम्भवतः कुछ अप्रिय बातें भी रही होंगी। कभी-कभी अत्यन्त कड़े नियन्त्रण में रहना हम लोगों को अखरता था परन्तु अभी नवीनता के वृक्ष का फल नहीं खाया था, इस लिए वह अपना अखरना भी कुछ कठोर नहीं था। किसी-किसी दिन कोई ब्रह्म-चारी बहुत बुरी तरह पिट जाता था। बड़े पण्डित जी प्रायः खडाऊँ से ही दण्ड देते थे। वह बात भी बहुत नहीं अखरती थी, क्योंकि आचार्य जी प्रायः आचार सम्बन्धी दोष पर ही दण्ड दिया करते थे। उस समय वे ब्रह्मचारी जिन्हें दण्ड नहीं

मिलता था, यह समझते थे, कि जिसे दण्ड मिला है वह इस योग्य ही था। इस प्रकार अप्रिय बातों का मार्जन हो जाता था। जब परिवर्तनयुग आया और अदन के बाग में नवीनता ने प्रवेश किया, तब ऊपर बतलाई हुई प्रायः सभी बातें हमें करकने लगीं। परन्तु आज लगभग ४०—४५ साल गुजर जाने पर भी जब मैं उस समय की स्मृति के पन्नों को पलटता हूँ तो मुझे वे जीवन की स्मृति के शष सब पन्नों से अधिक सुहावने प्रतीत होते हैं। उस समय के गुरुकुलीय जीवन के मूल सिद्धान्तों की पुष्टि में कोई युक्ति न होते हुए भी यह एक सचाई है कि उस में मधुरता अधिक थी। बुद्धिमान् लोग कह सकते हैं कि वह अनुभव-हीनता के कारण थी। अथवा यह भी सम्भव है कि जैसे सभी को अपना बचपन प्यारा लगता है मुझे भी वैसा ही लगता हो। कारण कुछ भी हो, इस में मुझे जरा भी सन्देह नहीं कि वह मेरे बालजीवन का सब से अधिक सन्तोषमय समय था।

—

बारहवाँ परिच्छेद

गुरुकुल में नवीनता का प्रवेश

मैंने गत दो परिच्छेदों में गुरुकुल के प्रारम्भिक जीवन

का विस्तृत विवरण दिया है। समय व्यतीत होने के साथ-साथ वह जीवन भी बदलता गया। जो परिवर्तन हुए उन्हें हम यदि किसी एक परिभाषा के अन्तर्गत लाना चाहें तो, वह शब्द नवीनता है। बाहर की दुनियाँ तो इतना ही जानती है कि गुरुकुल के पहले प्रोस्पेक्टस में ही पूर्व और पश्चिम के मिश्रण की कल्पना जनता के सामने रखी गई थी। वह सम-झेगी कि उसी कल्पना के अनुसार धीरे-धीरे गुरुकुल में प्राचीन और नवीन, पूर्व और पश्चिम, आपस में मिलते गए, जिस का अन्तिम फल हम वर्तमान गुरुकुल में देख रहे हैं। परन्तु वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। संसार के अन्य परिवर्तनों की तरह गुरुकुल का रूप-परिवर्तन भी लम्बे समुद्र-मन्थन का ही परि-णाम था। जिन परिवर्तनों पर समुद्र-मन्थन हुआ, वह पढ़ने में बहुत ही छोटे प्रतीत होंगे। सम्भव है कुछ पाठक उन पर हँसें भी। परन्तु परिवर्तन हो जाने के पश्चात् प्रायः यही अनु-भव हुआ करता हैं कि बात छोटी सी थी, उस का बतंगड़ क्यों बनाया गया ? कभी-कभी तो ऐसा अनुभव होने लगता है कि जैसे यदि विवेक से काम न लिया जाय तो बहुत सी अन्य बातें बतङ्गड़ बन जाती हैं, उसी प्रकार यदि ठीक कार्य कारण भाव पर विचार न किया जाय तो बहुत से बतङ्गड़ समय गुजर जाने पर केवल बात मात्र रह जाते हैं।

तो गुरुकुल में नवीनता के प्रवेश की कुछ घटनाओं की

कहानी सुनिए—

मैंने पहले एक संस्मरण में बतलाया था कि जब ब्रह्मचारी फूँस के छप्परों में रहा करते थे, तब रात के समय सरसों के तेल के चिराग से रोशनी की जाती थी। रात को पढ़ने का का रिवाज़ नहीं पड़ा था, क्यों कि अधिकतर ग्रन्थ याद करने पड़ते थे। दिन में घोटा लगाया जाता था और रात को पुन-रावृत्ति होती थी।

एक वर्ष के अन्दर-अन्दर कच्ची दीवारों के टिन-शैड खड़े हो गए। एक टिन-शैड में २५, ३० बालकों के रहने का स्थान था। यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि कमरे को रोशन करने के लिए बड़े लैम्प छत में टाँगे जाँय। ऐसे लैम्प मिट्टी के तेल से जलते हैं। निरीक्षण की सुलभता के लिए यह आवश्यक समझ कर कि प्रत्येक बैरक में एक-एक लैम्प लगा दिया जाय, पिता जी ने मुख्याधिष्ठाता की हैसियत से लैम्पों का आर्डर भिजवा दिया।

जब यह समाचार गुरुकुल में फैला तो एक विराट आन्दो-लन शुरू हो गया। इस आन्दोलन के मुखिया उस समय के आचार्य पं० गङ्गादत्त जी थे। पीछे से तो उन के विचारों में काफी परिवर्तन आ गया था, परन्तु उस समय वह पूरे अपरि-वर्तनवादी थे। उन के समय के विचारों का थोड़ा सा आभास निम्नलिखित प्रश्नोत्तर से मिल सकता है। मुझे अच्छी प्रकार

याद है कि एक दिन सायंकाल जङ्गल की ओर जाते हुए मैंने उन से प्रश्न किया था कि 'पञ्चतन्त्र' में लिखा है कि पशु-पक्षी आपस में बातें किया करते थे, क्या यह झूठ नहीं है ?

पण्डित जी ने मुझे जो उत्तर दिया उस का यह अभिप्राय था कि बात झूठ नहीं है, क्योंकि सतयुग में पशु-पक्षी और सब एक दूसरे की भाषा समझते थे। इस उत्तर ने मुझे बिल्कुल सन्तुष्ट कर दिया और कई वर्ष तक हम लोग यह मानते रहे कि पञ्चतन्त्र में जो कहानियाँ लिखी हैं, वे सतयुग की हैं और सत्य हैं।

उस आन्दोलन में कड़वे तेल के पक्ष में और मिट्टी के तेल के विरोध में बहुत सी युक्तियाँ दी जाती थीं। कहा जाता था कि कड़वे तेल का धुंआँ आँखों में सुरमे का काम देता है और मिट्टी के तेल का धुंआँ आँखों और फेफड़ों के लिए ज़हर का असर रखता है। हम लोगों की सहानुभूति प्रारम्भ में अपरिवर्तनवादियों के साथ थी। पं० गंगादत्त जी के मुख्य समर्थक भण्डारी सालिग्राम जी और अन्य कुछ संस्कृताध्यापक भी थे। उधर परिवर्तन दल का मुखिया उन दिनों पं. भक्त-राम जी डिंगा-निवासी को समझा जाता था। आप भी गंगा-दत्त जी के शिष्यों में से थे, परन्तु कुछ अंग्रेजी पढ़े लिखे थे। मिट्टी के तेल तथा अन्य ऐसे ही प्रस्ताव उठाने का श्रेय अपरिवर्तनवादी दल की ओर से पं. भक्तराम जी को ही दिया

जाता था । जो चर्चाएँ हम लोगों के सामने होती थीं उन में मान लिया जाता था कि प्रधान जी (पिता जी) सर्वथा निर्दोष हैं, लोग उन्हें बहका देते हैं और वह सीधे होने के कारण उन की बातों में आ जाते हैं । यह आन्दोलन कई महीनों तक जारी रहा । ब्रह्मचारियों में मिट्टी के तेल के प्रति विरोध की भावना बहुत उग्र रूप में पैदा की गई । यह तो अच्छा था कि अभी महात्मा गाँधी ने भारत के सार्वजनिक जीवन में निष्क्रिय प्रतिरोध और कानून भङ्ग की फसल नहीं बोई थी और ब्रह्मचारियों में प्रधान जी के प्रति बहुत श्रद्धा का भाव बना हुआ था । इस का परिणाम यह हुआ कि जब प्रधान जी की आज्ञा से मिस्त्री मग्घरसिंह कमरों में बड़ी लालटेन लटकाने के लिए आया तो कोई अप्रिय घटना नहीं हुई और चुपके से मिट्टी के तेल के रूप में पाश्चात्य सभ्यता ने पूर्वी सभ्यता के दुर्ग में प्रवेश कर दिया ।

दूसरा परिवर्तन चिकित्सा पद्धति के सम्बन्ध में था । गुरुकुल के पुराने प्रेमी जानते हैं कि प्रारम्भ-काल में गुरुकुल मलेरिया का प्रबल साम्राज्य था । बरसात के पश्चात् पनवाड़, भङ्ग और जङ्गली बूटियों से सारा प्रदेश भर जाता था, गढ़ों में भरा हुआ पानी भी सड़ने लगता था । फल यह होता था कि वायु-मण्डल मलेरिया के मच्छरों से परिपूर्ण हो जाता था । मुझे याद है कि कभी-कभी तो सब के सब ब्रह्मचारी बुखार

जाने पर ब्रह्मचारियों का इलाज सम्भवतः आयुर्वेदिक पद्धति से होता था। सम्भवतः शब्द का प्रयोग मैंने इसलिए किया कि हमारे आचार्य जी को एक टोकरी में से ही सब दवाएँ निकला करती थीं। उस समय तो पूछा नहीं कि कैसी दवाएँ हैं, अब अनुमान से समझता हूँ कि आयुर्वेदिक होंगी। दो-एक प्रयोग याद हैं। कब्ज होने पर जमालगोटे की गोली और किसी तरह का बुखार होने पर कुचले की गोली दी जाती थीं। हम सब पर समय-समय पर इन दवाओं का प्रयोग किया गया था।

यदि कोई कमीशन बैठता तो क्या परिणाम निकलता, यह मैं नहीं कह सकता। इतना याद है कि आठ महीने में व्यायाम और साधु भोजन से जो स्वास्थ्य बनता था, वह चौमासे में समाप्त हो जाता था। एक बार मेरे बड़े भाई हरिश्चन्द्र जी को चौमासे में ज्वर आना शुरू हुआ। बचपन से ही उनका शरीर बहुत भारी और शानदार था, वैसा ही भराव भी था। कभी-कभी हम दोनों भाई कुश्ती किया करते थे। मेरी यही चेष्टा रहती थी कि मैं नीचे न आऊं। नीचे आने पर बोझ के मारे हार माननी पड़ती थी। एक साँस में वे दो-दो सौ दण्ड कर लेते थे। भाग्यवश उन्हें भी बारी का बुखार आने लगा। बुखार में कम्बल उढ़ा कर लिटा दिए जाते थे, बुखार उतर जाने पर व्यायाम तथा ओजस्वी

भोजन द्वारा शक्ति देने का उपक्रम होता और बारी के दिन उस दवा की पिटारी में से दो एक गोलियां, उन्हें दी जाती थीं। उनका बुखार लगभग चार मास तक चला, जिसने उन्हें बीमारों और कृशों की पंक्ति में ला कर खड़ा कर दिया। इसी बीच में एक विशेष घटना हो गई। डाक्टर सुखदेव जी गुरुकुल में आ गए। आगे चलने से पूर्व कुछ शब्द उन के सम्बन्ध में कहने आवश्यक हैं, अन्यथा इतिवृत्त का सिलसिला पूरी तरह समझ में नहीं आएगा।

मैं पहले बतला आया हूं कि मेरी दो बहिनें थीं, जो हम दोनों भाइयों से बड़ी थीं। सबसे बड़ी बहिन वेदकुमारी जी की शादी का वृत्तांत मैं सुना चुका हूं। दूसरी बहिन का पहला नाम हेमकुमारी था, उस नाम को शायद कम धार्मिक समझ कर पिता जी ने विवाह से पूर्व बदल दिया और बहिन का नाम अमृतकला रख दिया। अमृतकला जी की शादी डा० सुखदेव जी से उन दिनों हुई थी, जब हम दोनों भाई गुजरानवाला गुरुकुल में पढ़ते थे। पिता जी के अन्य सब कार्यों की तरह अमृतकला जी का विवाह भी पञ्जाबी मुहावरे के अनुसार बड़े धूम-धड़ाके का कार्य था। सुखदेव जी मेडिकल कालेज में एस. ए. एस. की परीक्षा के लिये तैयार हो रहे थे। उनकी आर्थिक स्थिति बहुत साधारण थी, कड़े आलोचकों की दृष्टि में यह भी दोष की बात मानी गई है

कि वे जाति के अरोड़े थे, जो खत्रियों से नीचे समझे जाते हैं।

उधर पिता जी के मन पर पहली शादी के कारण बहुत गहरी प्रतिक्रिया हो गई थी । वह इस बात पर तुल गए थे कि लड़की का वर तलाश करने में न धन को देखूंगा, और न रूप को, न जाति की परवाह करूंगा और न डिगरियों की, केवल चरित्र को देखूंगा। इस कसौटी पर कस कर पिता जी ने सुखदेव जी को सोलह आने खरा पाया और अमृतकला जी से सगाई करने के लिए जालंधर बुला लिया। इस समाचार के फैलने पर भारी कुहराम मच गया । हमारा ननसाल इस सम्बन्ध का कट्टर विरोधी था । नाना जी और भाबो जी (हमारी नानी) की ओर से सन्देश पर सन्देश आने लगे, कि जाति से बाहर विवाह मत करो । उधर आर्य-समाज के क्षेत्र में भी एक अजीब तूफान सा खड़ा हो गया । जो आर्य-समाजी नेता पिता जी की तेज प्रकृति से घबराते थे उन्होंने अमृतकला के विवाह के प्रश्न को एक सार्वजनिक रूप दे कर लाहौर के आर्य-समाज के वार्षिकोत्सव पर एक कॉफ्रेन्स रख दी। उस कॉफ्रेन्स में कहने को तो अन्तर्जातीय विवाह के प्रश्न पर विचार रखा गया था, परन्तु वस्तुतः उस का उद्देश्य पिता जी के संकल्प को तोड़ना ही था। एक सदाशय पुरुष ने कांफ्रेंस में यहाँ तक कह दिया कि लाला मुंशीराम जी अपनी महत्वा-

कांक्षा पर लड़की को कुर्बान कर रहे हैं । सम्बन्धियों का विरोध और समाज के डरपोक नेताओं की कड़ी आलोचनाओं से विचलित न हो कर पिता जी अपने संकल्प पर डटे रहे और वह अपने ढङ्ग का पहला अन्तर्जातीय विवाह हमारे परिवार में सम्पन्न हो गया । उस विवाह के पश्चात् पिता जी ने जालन्धर की कोठी से विदाई ले ली और गंगा के तट पर गुरुकुल की योजना में लग गए ।

बहिन अमृतकला विवाह के पश्चात् दो वर्ष के लगभग जीवित रहीं । उन का शरीर पहले से निर्बल था, प्रसव के कष्ट को न सह सका और वह केवल दो वर्ष के गृहस्थ के पश्चात् डाक्टर सुखदेव जी को अकेला छोड़ कर परलोक चली गईं । डाक्टर सुखदेव जी ने इस चोट को मनुष्यों की तरह बर्दाश्त किया । घर का सब सामान बेच कर गुरुकुल को छात्रवृत्ति के लिए दान दे दिया और स्वयं सेवा का व्रत धारण कर के गुरुकुल में आ गए ।

इस प्रकार डाक्टर सुखदेव जी गुरुकुल में आए ।

तेरहवाँ परिच्छेद

नवीनता की बाढ़

इस समय तक मैंने गुरुकुल में छोटे-मोटे परिवर्तनों का

जो इतिहास सुनाया है, उस से पाठकों ने यही समझा होगा कि गुरुकुल में प्राचीनता के वातावरण में अर्वाचीनता बूंदें बन कर टपकी थी। अब मैं यात्रा के जिस पड़ाव पर आ गया हूं, उस में पाठक अर्वाचीनता को बरसात में नदी की बाढ़ की तरह गुरुकुल में प्रवेश करता हुआ पायेंगे। १६०२ में गङ्गा के तट पर गुरुकुल का उद्घाटन हुआ था। अब तक जो कहानी सुनाई गई, वह प्रारम्भिक वर्षों की है। १६०६ में गुरुकुल का दूसरा दौर शुरू हुआ। हम दोनों भाई सब से ऊपर की श्रेणी में थे, इस कारण प्रत्येक परिवर्तन का सब से अधिक असर हम दोनों पर ही होता था।

इस युग का विचार आते ही तीन नाम याद आते हैं।

सब से पहला नाम डा० चिरंजीव भारद्वाज का है। आर्यसमाज की वर्तमान संतति डाक्टर भारद्वाज के नाम से अधिक परिचित नहीं है। इस का मुख्य कारण यही है कि डाक्टर जी को इच्छानुसार समाज-सेवा करने का अधिक अवसर नहीं मिला। दुर्दैव ने उन के जीवन को अकाल में ही समाप्त कर दिया। डाक्टर भारद्वाज विलायत से डाक्टरी को बहुत ऊँची परीक्षा पास कर के आए थे। वे ऋषि दयानन्द के परम श्रद्धालु थे। श्रद्धा और आवेश यह दो उन की विशेषताएँ थीं। विलायत जाने से पहले ही ऐसे नौजवान आर्यसमाजियों का एक गिरोह उन के चारों ओर इकट्ठा हो गया

जो सुधार की भावना को क्रियात्मक रूप से अपने जीवन का अङ्ग बना देना चाहते थे। विलायत से वापिस आने पर पिता जी के त्यागमय जीवन से प्रभावित हो कर डा० भारद्वाज गुरुकुल की ओर आकृष्ट हुए और बड़ौदा रियासत की ऊँची नौकरी छोड़ कर गुरुकुल आ गए। आर्य समाचार-पत्रों ने यह समाचार इस रूप में छापा कि 'डाक्टर भारद्वाज ने गुरुकुल को जीवन-दान दे दिया।'

दूसरे महानुभाव, जिन का इस युग से विशेष संबन्ध है, वे प्रोफेसर रामदेव जी थे, जो उस समय मास्टर रामदेव जी कहलाते थे। प्रो० रामदेव जी आर्यसमाज की कालिज-पार्टी के नेता महात्मा हंसराज जी के भाई लगते थे। जब दोनों पार्टियों का संघर्ष बहुत ज़ोरों से चल रहा था, तब प्रो० राम-देव जी का झुकाव महात्मा पार्टी की ओर हो गया। वे प्रकृति से अतिशयताप्रेमी थे। उनका कोई कार्य छोटे आकार में या धीमी प्रगति से नहीं हो सकता था। वे उन खिला-ड़ियों में से थे, जो या तो ज़ीरो लेते हैं अथवा बाउण्डरी लगाते हैं। (यहाँ भ्रम निवारण के लिए लिख देना आव-श्यक है कि ऊपर दिया गया दृष्टांत, दृष्टांत ही है, यों प्रो० रामदेव जी ने जीवन भर में क्रिकेट या अन्य कोई शारीरिक खेल नहीं खेले। गंगा के तट पर लगभग आधा जीवन बिता कर भी वे पानी में कभी नहीं तैरे)। डाक्टर चिरंजीव भारद्वाज के वे

पट्टशिष्य थे। पिताजी से उन्हें तभी से प्रेम था, जब पंजाब की पार्टियों के झगड़े में प्रो० रामदेव जी बी. ए. पास कर के जालन्धर छावनी के हाईस्कूल में हेड-मास्टर बन कर आए थे। वहाँ का कार्य छोड़ कर वे भी डाक्टर भारद्वाज के साथ ही गुरुकुल आ गए थे। इसे आर्यसमाज के समाचार-पत्रों में दूसरा जीवन-दान कहा गया।

तीसरे मास्टर गोवर्धन जी बी. ए. थे। मास्टर गोवर्धन जी का यदि संक्षेप में वर्णन करना हो तो हम कह सकते हैं कि वे 'शरीरधारी नियम' थे। नियम की तरह कठोर और नियम की तरह भावुकताहीन थे। गुरुकुल की पाठशाला को स्कूल के रूप में लाना उन्हीं का काम था। यद्यपि मास्टर गोवर्धन जी जीवन-दान दे कर गुरुकुल में नहीं आए थे, तो भी उन के जीवन का बहुत हिस्सा गुरुकुल में व्यतीत हुआ।

अब तक हम लोग अपने रहने के कमरों में ही पढ़ा करते थे, बहुत हुआ तो यज्ञशाला में पढ़ने के लिए बैठ गए। पढ़ाई के घंटे नहीं बजते थे। जब सुबह का प्रातराश हो जाता तो पढ़ाई आरम्भ हो जाती और जब खाने की घंटी बज जाती तो पढ़ाई समाप्त हो जाती थी। इस प्रकार भण्डारी सालिग्राम जी की घंटी ही हमारी पढ़ाई का नियन्त्रण करती थी। मास्टर रामदेव जी के आने पर पहला परिवर्तन यह हुआ कि पढ़ाई की घंटी बजने लगी। इस अर्वाचीन रीति का काफी

विरोध हुआ। ब्रह्मचारियों को यह बन्धन प्रतीत होता ही था, अध्यापक भी इस से प्रसन्न नहीं थे। भण्डारी जी ने घोषणा कर दी थी कि यह रीति व्यवहार-योग्य नहीं है। एक दिन प्रातःकाल पढ़ाई की घण्टी बजने के पश्चात् दूध की घंटी बजी क्योंकि दूध इस से पूर्व गर्म नहीं हो सका। दूसरे दिन भोजन की घंटी पढ़ाई के बीच ही में बज गई। भोजन तैयार हो गया था।

अस्तु, यह व्यवस्था धीरे-धीरे ठीक हो ही रही थी कि एक नया प्रश्न खड़ा हो गया। डाक्टर चिरंजीव जी ने एतराज़ उठाया कि बच्चों को पढ़ने के लिए डैस्क क्यों नहीं दिये जाते ? उन का कहना था कि पुस्तक ठीक दूरी पर न रहने से आँखें खराब हो जाती हैं। इस प्रस्ताव का विरोध हुआ। विरोधियों की यह युक्ति थी कि डैस्क आ जाने से तो वह बिल्कुल स्कूल बन जायगा। ऐसे सभी परिवर्तनों के पीछे प्रधान जी की स्वीकृति रहती थी, इस कारण अन्त में वह हो ही जाते थे।

यह तो परिवर्तनों का आरम्भ था। एक वार गेंद लुढ़का तो लुढ़कता ही चला गया। पढ़ाई के कमरे अलग हो गए, घण्टे बजने लगे। पहले छोटे डैक्स और फिर कुर्सी वाले बड़े डैक्स आ गए। पढ़ाई के विषयों में भी क्रांति पैदा होने लगी। प्रो० रामदेव जी की अध्यक्षता में अङ्गरेजी, इतिहास और अर्थशास्त्र की पढ़ाई जोर-शोर से होने लगी। मास्टर गोवर्धन

जी साइन्स पढ़ाते थे। संस्कृत के विषयों का अध्यापन गुरु काशीनाथ जी के अतिरिक्त पं० भीमसेन जी शर्मा, पं० नरदेव जी शास्त्री, पं० पद्मसिंह शर्मा, तथा पं० विष्णुमित्र जी आदि करते थे। जब स्कूल बना तो एक हेड-मास्टर भी चाहिए था। मास्टर रामदेव जी गुरुकुल के प्रथम हेड-मास्टर (मुख्याध्यापक) नियत हुए। जब ग्यारहवीं श्रेणी खुल गई और हम लोग (महाविद्यालय) में चले गये, तो मास्टर रामदेव जी प्रिंसिपल हो गए और मुख्याध्यापक का कार्य मास्टर गोवर्धन जी के सुपुर्द हुआ। गुरुकुल के सभी पुराने स्नातक जानते हैं कि गुरुकुल विश्वविद्यालय को नियम और नियन्त्रण में लाने का श्रेय अधिकतर मास्टर गोवर्धन जी को ही था।

अगले परिच्छेद में मैं बतलाऊंगा कि देहरादून यात्रा के पश्चात् ब्रह्मचारियों के हृदयों में अर्वाचीन विद्याओं को सीखने की रुचि बढ़ गई थी। डा० चिरंजीव भारद्वाज और प्रो० रामदेव जी के व्यक्तित्व भी जोरदार थे। सब से बढ़ कर बात यह थी कि पिता जी उपदेशों तथा व्याख्यानों द्वारा बालकों को आवश्यक परिवर्तनों के लिये तैयार करते रहते थे। इन सब कारणों से हम लोगों का सामान्य झुकाव परिवर्तनों के पक्ष में हो गया था।

आचार्य गङ्गादत्त जी दिल से इन परिवर्तनों के विरोधी थे। यह तो नहीं कहा जा सकता कि वे सर्वथा अपरिवर्तनवादी

या सनातनपन्थी थे। सामान्य-रूप से वे किसी सनातन रूढ़ि में आस्था नहीं रखते थे। विचारों में आर्यसमाजी थे, परन्तु उनकी तबियत में लचकीलेपन का सर्वथा अभाव था। एक बार आर्यसमाजी बन गये तो बने रहे। नई परिस्थिति के अनुसार बदलना या किसी नई बात को लेकर नया अङ्ग बना लेना उनके लिए सम्भव नहीं था। डाक्टर चिरञ्जीव भारद्वाज और प्रो० रामदेव जी से सम्भवतः प्रथम दर्शनों से ही उनकी प्रतिकूलता हो गई थी, जो समय के साथ बढ़ती ही गई। डा० चिरञ्जीव भारद्वाज तो कुछ समय पश्चात् रूठ कर गुरुकुल से चले गये और प्रो० रामदेव जी लगभग तीस-वर्ष तक गुरुकुल के साथ सम्बद्ध रहे। आचार्य गङ्गादत्त जी का और उनका संघर्ष लगभग तीन वर्षों तक चला। आचार्य गङ्गादत्त जी निरन्तर यह अनुभव करते रहे कि वह संघर्ष में परास्त हो रहे हैं। उन्हें एक-एक कर के कई कदम पीछे हट जाना पड़ा। जिस से अन्त में उन्होंने और उनके कुछ शिष्यों ने गुरुकुल काँगड़ी छोड़ कर गङ्गा के दूसरे पार ज्वालापुर महाविद्यालय में जाने का निश्चय कर लिया।

१६०६ से १६१० के मध्य में गुरुकुल के रूप में लगभग क्रान्ति हो गई। गुरुकुल विद्यालय तथा महाविद्यालय इन दो भागों में विभक्त हो गया। विद्यालय की पाठविधि १० वर्षों

में बाँटी गई, और महाविद्यालय की ४ वर्षों में। इस समय सोचने पर अनुभव होता है कि यूनिवर्सिटियों की कड़ी आलोचना करते हुए भी उस समय हमने सोलहों आने यूनिवर्सिटियों के बाह्यरूप को अपना लिया। शायद उस समय कोई दूसरा मार्ग भी नहीं था। पाठशाला की पुरानी पद्धति बदली, क्योंकि पुरानी शैली बदलती हुई नई परिस्थितियों के अनुरूप नहीं थी। उसे जारी रखने का अभिप्राय यह होता है कि गुरुकुल तात का कूप ही बना रहता और ब्रह्मचारी कूप-मंडूक होते। दूसरी कोई पद्धति आविर्भूत नहीं हुई थी। जो महानुभाव गुरुकुल को विश्वविद्यालय का रूप देना चाहते थे, उन में से किसी को यह अवसर नहीं मिला कि वह पाठशाला और स्कूल के मध्य का कोई मार्ग निकाल सकते। परिणाम यह हुआ कि अङ्गरेजी मुहावरे के अनुसार नई बोतलों में पुरानी दवा भरने का यत्न प्रारम्भ हो गया।

यह संस्मरणों का संग्रह है, इसमें सम्मतियाँ देना अप्रासंगिक ही है, तो भी पथभ्रष्ट होकर सम्मति दे डाली है, इसके लिए पाठक क्षमा करें। मैं संस्मरण के इस भाग को समाप्त करते हुए इतना बतला देना आवश्यक समझता हूं कि इस परिवर्तन युग की समाप्ति पर हम गुरुकुल-भूमि में फूंस के घरों के स्थान पर महाविद्यालय की पक्की इमारतें खड़ी पाते हैं। कलेवर बदल चुका था, बहुत कुछ मन भी बदल चुका था,

केवल आत्मा के प्रतिनिधि मुख्याधिष्ठाता महात्मा मुन्शीराम जी गुरुकुल की निरन्तरता को कायम रख रहे थे।

—

चौदहवाँ परिच्छेद

एक मनोवैज्ञानिक परीक्षण

मनुष्य के जीवन में ऐसे समय प्रायः आते रहते हैं जब वह अपने को एक चौराहे पर खड़ा पाता है। उस समय उस के लिये ठीक मार्ग का निर्णय करना कठिन हो जाता है, यदि ठीक समय और ठीक स्थान पर कोई अच्छा मार्ग-दर्शक मिल गया तो मनुष्य उलझन से निकल कर ठीक रास्ते पर पड़ जाता है, अन्यथा या तो उलटे रास्ते पर चल पड़ता है अथवा दुविधा में फंस कर जीवन के अमूल्य अवसर को खो देता है। ठीक स्थान और ठीक समय पर सच्चा मार्ग दर्शक मिल जाय, यह अच्छे भाग्यों से होता है। इसी से बड़े से बड़े पुरुषार्थवादी भी अन्त में प्रारब्धवादी होते देखे गए हैं।

अब मैं अपने जीवन की जिस घटना का इतिहास सुनाने लगा हूं वह ऐसी ही थी। हम दोनों भाई घटनाचक्र के वशीभूत हो कर उन्नीस सौ छः ईस्वी के मध्य में जीवन के चौराहे

पर पहुँच गए थे। वह मानसिक उलझन क्या थी और उस से हमारा कैसे उद्धार हुआ, यह पाठकों को निम्नलिखित घटना से ज्ञात होगा।

मैं इस से पूर्व गुरुकुल की प्रारम्भिक दिनचर्या के प्रसङ्ग में बतला आया हूँ कि उन दिनों हम लोग संस्कृत ही पढ़ा करते थे। व्याकरण, साहित्य, दर्शन सभी विषयों में हमारी योग्यता अच्छी मानी जाने लगी थी। मुझे स्मरण है कि एक वार आर्य-समाज के प्रसिद्ध विद्वान् पं० आर्यमुनि जी गुरुकुल देखने के लिए आए। हम लोग उस समय गंगा पर नहाने की तैयारी कर रहे थे। पं० आर्यमुनि जी प्रधान जी के साथ हम लोगों के पास आए और संस्कृत में बातचीत करने लगे। यदि भूलता नहीं तो पं० आर्यमुनि जी ने गंगा की ओर देख कर निम्नलिखित वाक्य कहा था—"शुद्धं अम्बु गच्छति" इस वाक्य का सुनना था कि हम लोग बे-मतलब उन से उलझ पड़े। व्याकरण का झगड़ा छेड़ कर हमने उन्हें बहुत तंग किया। पंडित जी दार्शनिक थे, व्याकरण उन्हें उपस्थित नहीं था। हमारे बचपन पर वह हंसते रहे और अन्त में साधु-साधु कहते हुए प्रधान जी के साथ चले गए। यह हमारी उस समय की मनोवृत्ति का एक अच्छा नमूना था कि हमने अपने आप को विजयी समझा और बहुत प्रसन्न हुए।

इसी बीच में काशी के प्रसिद्ध विद्वान् गुरुवर पं० काशी-

श्री हरिश्चन्द्र विद्यालङ्कार

श्री रोहिताश्व (हरिश्चन्द्र जी के सुपुत्र)

नाथ जी गुरुकुल में अध्यापक के तौर पर आ गए। गुरुवर पं० काशीनाथ जी पुराने ढंग के पाण्डित्य का एक बढ़िया नमूना थे। उन का वेश यह था—धोती और बन्डी के अतिरिक्त चादर ओड़ते थे। सर्दियों में चादर के स्थान पर लिहाफ ओढ़ लेते थे। अधिक गर्मियाँ होने पर बन्डी उतार देते थे। उन के स्टाक में कोई चौथा कपड़ा नहीं रहता था। धोबी के यहाँ कोई कपड़ा धुलने नहीं देते थे। नहा कर गीली धोती निचोड़ देते थे, बस वस्त्र-शुद्धि का उन का इतना ही कार्यक्रम था। इस कारण गुरु जी के कपड़े सदा मैले ही दिखाई दिया करते थे।

पुराने पंडितों को पान, तम्बाकू, सूंघनी आदि में से किसी चीज़ की एक आदत हुआ करती थी। गुरु जी को सूंघनी की आदत थी। वैसे तो जागरित अवस्था में भी थोड़ी-थोड़ी देर में सूंघते रहना उन के लिये आवश्यक था, परन्तु विशेष रूप से जब वह पढ़ाने के लिये बैठते थे, तब बहुत सी सूंघनी चुटकी में ले कर नाक के मार्ग से मस्तक तक चढ़ाना अनिवार्य सा हो जाता था। हम लोगों ने पुस्तक खोली और गुरु जी ने सूंघनी चुटकी में ली। यह जान कर आजकल के गुरुओं और विद्यार्थियों को आश्चर्य होगा कि गुरु जी को पढ़ाते समय कोई पुस्तक खोलने की आवश्यकता नहीं होती थी। व्याकरण, नवीन तथा प्राचीन दर्शन, अलंकार-शास्त्र

ज्योतिष, निरुक्त, आदि किसी भी विषय के कठिन से कठिन ग्रन्थ को वह बिना पुस्तक देखे ही पढ़ा सकते थे। हम लोग पाठ पढ़ते जाते और वह अपनी पुरबिया भाषा में समझाते जाते। शास्त्र की कोई ऐसी गाँठ नहीं थी, जिसे उन की प्रतिभा खोल नहीं सकती थी। शास्त्रों का कोई ऐसा भँवर नहीं था, जिसे उन की विद्वत्ता पार नहीं कर सकती थी। कोई ग्रन्थ खोलिए, गुरु जी को वह उपस्थित मिलता था। उन धूमिल वस्त्रों में उस अगाध विद्वत्ता को देख कर सचमुच आश्चर्य होता था।

इसी प्रसंग में एक मनोरंजक घटना याद आगई है, उसे भी लिखे देता हूं। एक साल चौमासे में गंगा का जल बहुत बढ़ गया। गुरुकुल के पुराने यात्रियों को मालूम है कि बरसात में हरिद्वार से गुरुकुल तक की यात्रा कनस्तरों के बँधे हुए तमेड़ों पर हुआ करती। वह किश्ती कितनी मनोरंजक और कितनी भयानक थी, यह वे समझ सकते हैं जिन्होंने चौमासे में उमड़ती हुई गंगा की धारा को तमेड़ से पार किया हो। एक क्षण में यात्री अपने को गंगा की चोटी पर, और दूसरे क्षण में गंगा के पाताल में पाता था। साल में दो-चार दिन ऐसे भी आते थे, जब तमेड़ चलाने वाले गङ्गा का सामना करने से इन्कार कर देते थे। उस साल ऐसे ही चार दिन आ गए, जिनमें गुरुकुल का हरिद्वार से पूरी तरह

सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। इधर गुरु जी की डिबिया में सूंघनी समाप्त हो गई। प्रातःकाल के समय जब हम लोग गुरु जी के सामने पढ़ने के लिए बैठे तो बहुत ही करुणा-जनक दृश्य था। वे कभी विद्यार्थियों की तरफ देखते थे और कभी गंगा के उस घाट की ओर, जहां परले पार से आकर तमेड़ लगती थी। सूंघनी के बिना विद्वत्ता के उस अथाह सागर के मस्तिष्क और वाणी सर्वथा मौन थे। तीन दिन इसी तरह से बीत गए। कोई पाठ न हुआ। चौथे दिन गुरु और शिष्य उसी प्रकार बैठ कर समय व्यतीत कर रहे थे कि इतने में गंगा में तमेड़ दिखाई दी। गुरु जी ने इशारा करके एक ब्रह्मचारी को भगाया जिसने तमेड़ के किनारे पर लगते ही हरिद्वार से आए हुए सामान में से सूंघनी की पुड़िया निकाल ली, और गुरु जी के हाथ में दे दी। उस समय गुरु जी के चेहरे की प्रसन्नता देखने योग्य थी, मानों समुद्र-मेखला पृथिवी का साम्राज्य मिल गया हो। गुरु जी ने कई चुटकियाँ इकट्ठी नाक में चढ़ा ली, जिससे एक वार तो आंख और नाक से खूब पानी बह निकला, परन्तु चार-पांच मिनट में प्रतिभा के सब कपाट खुल गए और शास्त्र का अनवरत प्रवाह बह निकला।

गुरु जी की एक बात और सुना कर आगे चलता हूं। लम्बी छुट्टियों में गुरु जी बलिया जाने के लिए तैयार हुए।

यात्रा के लिए एक खुरजी तैयार की गई, जिसमें एक ओर कुछ कपड़े, और दूसरी ओर सत्तू, चने आदि बंधे हुए थे। सफर में गुरु जी न जल पीते थे न खाना खाते थे। गुरुकुल में भी केवल अपने हाथ का बना खाना ही खाते थे। खुरजी को कन्धे पर डाल कर गुरु जी जब तीसरे दर्जे के डिब्बे में प्रविष्ट हुए और सीट के नीचे की जगह में बैठने लगे तो हम लोगों ने, जो उन्हें स्टेशन पर छोड़ने गए थे, सीट पर जगह खाली करा कर गुरु जी से निवेदन किया—"महाराज" आप नीचे क्यों बैठते हैं, सीट पर बैठिए, जगह तो है। गुरु जी ने बहुत भोले ढंग पर उत्तर दिया—"अरे यहीं ठीक है, वहां कोई उठाय दई है।" उस समय तो हम लोगों ने यह विश्वास दिला कर, कि 'आपको रास्ते में कोई नहीं उठाएगा' गुरु जी को सीट पर बिठा दिया था, आगे कैसी बीती यह मालूम नहीं।

ऐसे प्रकाण्ड विद्वान् के उस सादा जीवन का हम लोगों पर बहुत गहरा असर हुआ। मस्तक पर मध्यकालीन संस्कृत का अधिकार बढ़ने लगा। शेखर और मुक्तावली ने काशिका और प्रशस्तपाद को मैदान से भगा दिया। यह हमारी ओछी बुद्धि और अल्प विद्या का ही परिणाम था। गुरु जी के आने के दो-तीन वर्ष बाद हम लोगों में यह भाव पैदा हो गया, कि आर्यसमाज के पास और कुछ भी हो, पाण्डित्य का सर्वथा अभाव है। हम लोग ज्ञानलव-दुर्विदग्धता के अच्छे खासे

नमूने बन गए।

एक दिन रात्रि के भोजन के पश्चात् हम दोनों भाइयों ने प्रधान जी (पिता जी) से प्रार्थना की कि हम अकेले में उन से कुछ बातें करना चाहते हैं। गुरुकुलीय जीवन में शायद यह पहला अवसर था, जब हमने पिता जी से अलग बातचीत करने का अवसर माँगा हो। अन्यथा वे हम दोनों को सदा अन्य ब्रह्मचारियों के समान भाव से ही देखते रहे। हमारी प्रार्थना से पिता जी को आश्चर्य हुआ, तो भी उन्होंने हमारी प्रार्थना स्वीकार कर ली, और हम दोनों को साथ लेकर उसी समय गुरुकुल-वाटिका में चले गए। वहां टहलते टहलते भाई जी ने पिता जी से अपने मन का भाव कहा—भाव यह था कि हम दोनों गुरुकुल की शिक्षा से सन्तुष्ट नहीं हैं। इस शिक्षा से हम पंडित नहीं बन सकेंगे। पंडित बनने के लिए काशी में शिक्षा पाना आवश्यक है। हमें पं० शिवकुमार शास्त्री, पं० जयदेव मिश्र और श्री भागवताचार्य जैसे पंडितों से शिक्षा पाने का अवसर मिलेगा। आप हमें गुरुकुल से उठा कर बनारस भेज दीजिए।

हमारे इस प्रस्ताव से पिता जी को जो मानसिक धक्का पहुँचा होगा, उसका अनुमान लगा कर अब भी मेरा दिल काँप उठता है। जिस व्यक्ति ने गुरुकुल-शिक्षा की स्थापना के लिए सर्वस्व लगा दिया हो, उस के लड़के ही जब निष्फलता

यात्रा के लिए एक खुरजी तैयार की गई, जिसमें एक ओर कुछ कपड़े, और दूसरी ओर सत्तू, चने आदि बंधे हुए थे। सफर में गुरु जी न जल पीते थे न खाना खाते थे। गुरुकुल में भी केवल अपने हाथ का बना खाना ही खाते थे। खुरजी को कन्धे पर डाल कर गुरु जी जब तीसरे दर्जे के डिब्बे में प्रविष्ट हुए और सीट के नीचे की जगह में बैठने लगे तो हम लोगों ने, जो उन्हें स्टेशन पर छोड़ने गए थे, सीट पर जगह खाली करा कर गुरु जी से निवेदन किया—"महाराज" आप नीचे क्यों बैठते हैं, सीट पर बैठिए, जगह तो है। गुरु जी ने बहुत भोले ढंग पर उत्तर दिया—"अरे यहीं ठीक है, वहां कोई उठाय दई है।" उस समय तो हम लोगों ने यह विश्वास दिला कर, कि 'आपको रास्ते में कोई नहीं उठाएगा' गुरु जी को सीट पर बिठा दिया था, आगे कैसी बीती यह मालूम नहीं।

ऐसे प्रकाण्ड विद्वान् के उस सादा जीवन का हम लोगों पर बहुत गहरा असर हुआ। मस्तक पर मध्यकालीन संस्कृत का अधिकार बढ़ने लगा। शेखर और मुक्तावली ने काशिका और प्रशस्तपाद को मैदान से भगा दिया। यह हमारी ओछी बुद्धि और अल्प विद्या का ही परिणाम था। गुरु जी के आने के दो-तीन वर्ष बाद हम लोगों में यह भाव पैदा हो गया, कि आर्यसमाज के पास और कुछ भी हो, पाण्डित्य का सर्वथा अभाव है। हम लोग ज्ञानलव-दुर्विदग्धता के अच्छे खासे

नमूने बन गए।

एक दिन रात्रि के भोजन के पश्चात् हम दोनों भाइयों ने प्रधान जी (पिता जी) से प्रार्थना की कि हम अकेले में उन से कुछ बातें करना चाहते हैं। गुरुकुलीय जीवन में शायद यह पहला अवसर था, जब हमने पिता जी से अलग बातचीत करने का अवसर माँगा हो। अन्यथा वे हम दोनों को सदा अन्य ब्रह्मचारियों के समान भाव से ही देखते रहे। हमारी प्रार्थना से पिता जी को आश्चर्य हुआ, तो भी उन्होंने हमारी प्रार्थना स्वीकार कर ली, और हम दोनों को साथ लेकर उसी समय गुरुकुल-वाटिका में चले गए। वहां टहलते टहलते भाई जी ने पिता जी से अपने मन का भाव कहा—भाव यह था कि हम दोनों गुरुकुल की शिक्षा से सन्तुष्ट नहीं हैं। इस शिक्षा से हम पंडित नहीं बन सकेंगे। पंडित बनने के लिए काशी में शिक्षा पाना आवश्यक है। हमें पं० शिवकुमार शास्त्री, पं० जयदेव मिश्र और श्री भागवताचार्य जैसे पंडितों से शिक्षा पाने का अवसर मिलेगा। आप हमें गुरुकुल से उठा कर बनारस भेज दीजिए।

हमारे इस प्रस्ताव से पिता जी को जो मानसिक धक्का पहुँचा होगा, उसका अनुमान लगा कर अब भी मेरा दिल काँप उठता है। जिस व्यक्ति ने गुरुकुल-शिक्षा की स्थापना के लिए सर्वस्व लगा दिया हो, उस के लड़के ही जब निष्फलता

और निराशा का सन्देश ले कर आएं तो उस व्यक्ति के हृदय पर आघात होना स्वाभाविक ही था। पिता जी हमारा प्रस्ताव सुन कर चुप हो गए, बहुत देर तक तीनों मौन मुद्रा में घूमते रहे । यह अनुभव कर के कि हमारे शब्दों ने पिता जी को बहुत दुखी किया है, हम दोनों स्तब्ध से हो गए । पिता जी के मन में क्या विचार उठते रहे होंगे, इस का अनुमान ही लगाया जा सकता है ।

कुछ देर तक चुपचाप टहलने के पश्चात् पिता जी ने बड़े शान्तभाव से कहा, मैं तुम्हारी बातों का उत्तर कल दूंगा ।

दूसरे रोज हम बड़ी उत्सुकता से उत्तर की प्रतीक्षा करने लगे । तरह-तरह के विकल्प मन में उठ रहे थे । कभी सोचते कि पिता जी बनारस भेज देंगे, न भेजना होता तो उसी समय इन्कार कर देते । फिर विचार उठता कि भेजना होता तो उसी समय मान भी तो सकते थे । अवश्य इन्कार करेंगे । इसी तरह संकल्प, विकल्प करते सायं-काल का समय आ गया । सायं-काल पढ़ाई से छुट्टी होने पर कमरे से बाहर निकले, तो प्रधान जी का चपरासी हाथ में एक कागज ले कर आता हुआ दिखाई दिया । उस कागज में इस आशय की आज्ञा लिखी हुई थी कि भोजन से निवृत्त हो कर दो बड़ी श्रेणियों के सब ब्रह्मचारी मुख्याधिष्ठाता जी के निवास-स्थान पर एकत्र हों । इस आज्ञा से हम दोनों भाइयों की द्विविधा

और भी बढ़ गई । क्या हमारे प्रस्ताव का उत्तर सब के सामने दिया जायगा ?

भोजन के उपरान्त ऊपर की दो श्रेणियों के ब्रह्मचारी प्रधान जी के स्थान पर इकट्ठे हुए । मैं शायद इन संस्मरणों में यह बतलाना भूल गया हूँ कि हम दोनों भाई एक ही श्रेणी में थे, और वह श्रेणी गुरुकुल में सब से बड़ी थी । हमारे साथ एक और साथी भी शिक्षा पाते थे, जिन का नाम जयचन्द था । वह स्नातक बनने से पूर्व ही गुरुकुल छोड़ कर चले गए थे । अस्तु, हम सब प्रधान जी के स्थान पर एकत्रित हुए । प्रधान जी ने बड़े प्रसन्न भाव से ब्रह्मचारियों को यह समाचार सुनाया कि दोनों बड़ी श्रेणियों को देहरादून-यात्रा कराने का निश्चय किया गया है । इतना समाचार मात्र हम पिंजरे के पंखियों को फड़का देने के लिए पर्याप्त था । हमने अभी हरिद्वार भी अच्छी तरह न देखा था। देहरादून की यात्रा होगी यह जान कर हम लोग बहुत ही प्रसन्न हुए। प्रधान जी ने अत्यन्त आकर्षक शब्दों में यात्रा का कार्य-क्रम हमारे सामने रखा । सायंकाल के समय चलेंगे । रात को मायापुर वाटिका में ठहरेंगे । सुबह स्टेशन पर पहुँच कर तुम लोगों को यह समझाऊँगा कि इन्जन से रेल कैसे चलती है ? देहरादून पहुंच कर जंगलात का कालेज, ओब्जरवेटरी, आदि संस्थाएँ देखने को मिलेंगी। फिर सहस्र-धारा चलेंगे, इत्यादि इतनी नई चीजें

इकट्ठी देखने की आशा उत्पन्न करने के अनन्तर प्रधान जी ने हमारे जिम्मे कई काम लगा दिए। कल कागज मंगवा दिए जाएंगे, तुम लोग यात्रा के नोट लेने के लिए स्वयं जिल्द वाली डायरियाँ तैयार कर लो। सब मैले कपड़ों को धो डालो। चार दिन के लिए खैर की दातुनें इकट्ठी कर लो। यात्रा के लिए भंडारी, सहायक भंडारी उसी समय नियत कर दिए गए। इस प्रकार यात्रा और यात्रा की तैयारी का पूरा कार्य-क्रम हमारे दिल और दिमाग में भर कर प्रधान जी ने हमें सोने के लिए आश्रम में भेज दिया।

मेरे अध्ययन और निजी अनुभवों में जितने मनोवैज्ञानिक परीक्षण आए हैं, उन में शायद ही कोई परीक्षण इतना सफल हुआ हो, जितना पिता जी का यह परीक्षण। मैं इसे उन की नेतृत्व शक्ति का सब से बड़ा प्रबल प्रमाण मानता हूँ। मनुष्यों का नेता वही हो सकता है, जो उन के मनों को अपनी इच्छानुसार साँचे में ढाल सके, और ढाल भी सके ऐसे ढङ्ग पर कि अनुयायियों को यह मालूम न हो कि उन्हें कुछ का कुछ बना दिया गया है। देहरादून की यात्रा के प्रस्ताव ने हम दोनों के मन में से बनारस जाने की इच्छा के खंडहरों तक को निकाल कर बाहर फैंक दिया। रात को जब हम सोने के लिए आश्रम में पहुँचे तो हमारे हृदयों में से निराशा विदा हो चुकी थी और उत्साह भरा हुआ था। हमारे

कल रात के प्रस्ताव का पिता जी की ओर से यह क्रियात्मक उत्तर था।

देहरादून की यात्रा हम दोनों भाइयों के जीवन में एक पड़ाव की हैसियत रखती है। उस यात्रा का ब्रह्मचारियों के मन और हृदय पर बहुत गहरा असर हुआ। बाहर की दुनियाँ से अलग रहने के कारण हमारे मन की स्लेट लगभग साफ़ थी। उस पर बाह्य सँसार के जो पहले अक्षर लिखे गए, वह बहुत ही स्पष्ट और गहरे थे। हम लोग केवल संस्कृत ज्ञान के श्रद्धालु रूप में यात्रा के लिये चले थे। जब वापिस आए तो विज्ञान कला आदि की जिज्ञासा से पूर्ण थे। यह उस मनोवैज्ञानिक परीक्षण का परिणाम था, जो पिता जी ने ब्रह्मचारियों के मन पर किया था।

—

पंद्रहवाँ परिच्छेद

गुरुकुल काँगड़ी के दर्शक

गुरुकुल के पुराने यात्रियों को यह याद दिलाने की आवश्यकता नहीं कि गङ्गा के उस पार होने वाले वार्षिकोत्सवों में दर्शक किस अद्भुत भक्तिभाव से सम्मिलित होते थे। यह भक्तिभाव उचित था या नहीं, इस प्रश्न पर मैं विचार नहीं

करता। कारण यह है कि मैं इन परिच्छेदों में संस्मरणों का संग्रह कर रहा हूं, उन के औचित्य पर विचार नहीं कर रहा। यह भी स्मरण रखना चाहिये, कि भक्ति के क्षेत्र में तर्क का अधिक प्रयोग करने से विशेष लाभ नहीं होता। यह तो बताया जा सकता है कि भक्ति किन कारणों से पैदा हुई, परन्तु आम तौर पर एक व्यक्ति के लिए पूरी तरह यह जानना अत्यन्त कठिन है कि दूसरे के हृदय में भक्तिभाव कितना है, क्यों है और कहाँ तक ठीक है। भक्ति का मौसम आ जाने पर तर्क की फसल स्वयं ही मर जाती है।

उस समय गुरुकुल के यात्रियों के हृदय में भक्ति का स्रोत बहता था। वे लोग गुरुकुल में तीर्थ की भावना रख कर आते थे। मैं इस के मुख्यतः कारण चार समझता हूं। (१) व्याख्यानों और लेखों द्वारा पुराने गुरुकुलों का इतना आकर्षक चित्र आर्य जनता के सामने खेंचा गया था, कि वह गुरुकुल में स्वर्ग के टुकड़े की कल्पना करके जाते थे। (२) गुरुकुल का हरिद्वार में होना तीर्थ की स्मृति को जगाने वाला था। यह निश्चित बात है, कि यदि गुरुकुल हरिद्वार में न बन कर किसी अन्य स्थान में बनता तो उस में तीर्थ की इतनी अधिक भावना न रहती। (३) गुरुकुल के लिए जो स्थान चुना गया, वह वस्तुतः अद्भुत था। वहाँ मैंने

बड़े-बड़े नास्तिकों को आस्तिकता की बातें करते सुना। (४) पिताजी का व्यक्तित्व गुरुकुल जाने से पूर्व ही आर्य-समाजियों में ऊंचा स्थान पा चुका था। आदर्शवाद और साहसिक सुधारों के कारण साधारण जनता में श्रद्धा का भाव उत्पन्न हो चुका था। उनका व्यक्तित्व भी गुरुकुल का एक विशेष आकर्षण था।

मैं इस परिच्छेद में जो अपने अनुभव की घटनाएँ लिखूँगा उन से यह स्पष्ट हो जायगा कि ऊपर दिए हुए कारण किस प्रकार अपना कार्य करते थे। अपने अनुभव की जो टघनाएं मैंने यहाँ लिखी हैं, वह मेरे गुरुकुल वास के लगभग सत्रह सालों में भिन्न-भिन्न अवसर पर घटित हुई थीं। इन सत्रह वर्षों में से दस वर्ष (१९०२ से १९१२ तक) छात्रावास में व्यतीत हुए।

गङ्गा के उस पार के गुरुकुलोत्सवों के विकास पर दृष्टि डालें तो हमें उसमें बहुत सी मनोवैज्ञानिक सचाइयाँ दिखाई देंगी। उनसे जनता के मानसिक भावों को परखने में बड़ी सहायता मिल सकती है। पहले आप उपस्थिति पर दृष्टि डालिए। पहला वार्षिकोत्सव १९०२ में हुआ था। वह आश्रम के घेरे में ही समा गया था। अनुमान लगाया गया है, कि उस में अधिक से अधिक उपस्थिति तीन हजार की थी। यह संख्या प्रति वर्ष बढ़ने लगी। क्रमशः बढ़ते-बढ़ते दस वर्ष में वह ७०—

७५ हजार तक पहुँच गई। जिस वर्ष देशमान्य गोपालकृष्ण गोखले के प्रतिनिधि बन कर देवधर जी गुरुकुलोत्सव पर आए थे, उस वर्ष बाहर से आए हुए दर्शकों की संख्या ७५ हजार के लगभग आंकी गई थी।

इस संख्या का महत्व समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि गुरुकुल तक जाने की स्थिर और सामयिक कठिनाइयाँ कितनी थीं। हरिद्वार के स्टेशन से कनखल तक तो घोड़ागाड़ी में पहुँचा सकता था। वहाँ से लगभग तीन मील का रास्ता रेत, गोल पत्थर और काँटेदार घने जंगलों का था। साल में चार-पाँच महीनों तक गंगा की धाराओं पर किश्तियों या खटोलों के पुल बंधे रहते थे। उन दिनों में भी उस रास्ते की कठिनाई का अनुमान इस से लगाया जा सकता है, कि दिन में या रात में, सुबह या दोपहर के समय वह रास्ता पैदल ही तय करना पड़ता था। सामान के लिए बैल ताँगा मिल गया तो बहुत समझो। किसी-किसी वर्ष तो ठीक उत्सव के दिनों में अधिक वर्षा हो जाने के कारण गंगा में जल बढ़ जाता था, और पुल टूट जाते थे। पुल टूटने की खबर आते ही प्रधान जी कन्धे पर पीला दुपट्टा डाल कर और लम्बी लाठी हाथ में ले कर ब्रह्मचारियों में आते थे, और कहते थे कि चलो पुल बनायेंगे। सब बड़े ब्रह्मचारी और उन के अधिष्ठाता प्रातःकाल ही घाट पर पहुँच जाते थे, और गाँव से बुलाए हुए मल्लाहों की सहायता से पुल बनाने

का कार्य आरम्भ हो जाता था। ब्रह्मचारी जांघिया बाँध कर गंगा में कूद पड़ते थे, किश्तियों को स्थान-स्थान पर जोड़ना, खटोले जमाना और उन में पत्थर भरना आदि सब प्रकार का काम ब्रह्मचारी, उन के अधिष्ठाता, और कारीगर मिल कर करते थे। परिणाम यह होता था कि कुछ ही घन्टों में सेतु-बन्ध पूरा होता दिखाई देने लगता था। मुझे अब तक वह दृश्य बड़ी स्पष्टता से याद है, जब हम लोग पुल बनाने के काम में लगे होते थे और सुबह की हरिद्वार पैसेन्जर से आई हुई सवारियाँ गङ्गा के कनखल की ओर के किनारे पर इकट्ठी होने लगती थीं। उन्हें देख कर हम लोग और जोर से काम करने लगते थे। एक बार उस पार दसों परिवार इकट्ठे हो गए। दोपहर के बारह बज गए, पर पुल पूरा नहीं हो सका। प्रधान जी ने उसी समय खाने का बहुत सा सामान गुरुकुल से मंगवा कर तमेड़ों पर परली पार भेज दिया और कहला भेजा कि आप लोग वापिस न जांय। हम सब पुल पूरा होने पर ही खाना खायेंगे। इस पर जो यात्री तैरना जानते थे, गंगा में कूद पड़े और पुल बनाने में हमारी सहायता करने लगे। जहाँ तक याद है दिन के दो बजे तक पुल पूरा हो गया। और गुरुकुल वासी यात्रियों को साथ ले कर गुरुकुल की ओर रवाना हो गए।

यात्रियों के ठहरने के लिए उन दिनों फूंस के छप्पर बनाये

जाते थे। मशहूर है कि होली पर आकाश से भी प्रायः गर्द और पानी बरसता है। उन दिनों उत्सव प्रायः होली के दिनों में हुआ करते थे। यात्रियों को कभी-कभी खुले छप्परों में आँधी पानी का सामना करना पड़ता था। दो-एक बार आग भी लगी थी। इन सब आपत्तियों को सहते और जानते हुए भी दर्शक लोग गुरुकुल भूमि में पहुँचते थे। इस का मुख्य कारण वह भक्ति-भाव ही था जिस के कारणों की ओर मैंने ऊपर निर्देश किया है। उन दिनों यात्री गुरुकुल को तीर्थ और धर्म स्थान समझकर वहाँ जाते थे और जितने दिन वहाँ रहते, धार्मिक भावना से प्रेरित रहने का ही यत्न करते थे।

१६०६–१० के लगभग दिल्ली के सैण्ट स्टीफन्स कालेज से गुरुकुल के सम्बन्ध ऐसे हो गए थे, जैसे दो बहिन-संस्थाओं के होते हैं। मि० ए० एफ० ए० एन्डरूज़ और प्रिन्सिपल रुद्र का पिता जी से स्नेह हो गया था, उसे अकारण स्नेह का नाम ही देना चाहिए, क्यों कि न तो उस में किसी का कुछ स्वार्थ था और न ही धर्म अथवा संस्कृति की समानता थी। केवल प्रवृत्तियों की समानता के कारण ही वह स्नेह पैदा हुआ था। एक वार सर्दी के मौसम में सेण्ट स्टीफन्स कालिज के नौजवान प्रोफेसर पियर्सन गुरुकुल आए। मिस्टर पियर्सन की आयु २५–२६ वर्ष की होगी। वे स्काटलैंड निवासी थे। प्रातःकाल की गाड़ी से उतरे। स्टेशन से

गुरुकुल तक का मार्ग प्रदर्शन करने का काम मेरे जिम्मे लगाया गया था। मैंने उन्हें गुरुकुल की पक्की धर्मशाला में ठहरा दिया। वह धर्मशाला गुरुकुल की इमारतों से अलग एकान्त स्थान में बनी हुई थी और सुन्दर उद्यान से घिरी थी। उस उद्यान को गुरुकुल वाले मक्खन की वाटिका के नाम से पुकारते थे। मक्खन उस वाटिका के माली का नाम था। यदि गुरुकुल का कोई पुराना यात्री उस की स्मृति से खिचा हुआ गंगा को पार कर के आज भी उस पुरानी भूमि में जाने का परिश्रम उठाए, तो वह घने जङ्गल में एक पक्की सफेद इमारत को देखेगा, जिसे वह आसानी से नहीं पहचान सकेगा कि यह वही पक्की धर्मशाला है। पहिचान लेने पर वह अवश्य ही आश्चर्य करेगा कि गंगा की तूफानी बाढ़, मनुष्य की घोर उपेक्षा और समय की निरन्तर चोटों को सह कर भी यह इमारत किस तरह साबित खड़ी है। उस समय यही वाक्य मुंह से निकलता है 'जिस को राखे साइयाँ मार सके न कोय।'

हाँ, तो मैंने मिस्टर पियर्सन को पक्की धर्मशाला में ठहरा दिया, और उन के स्नान आदि का प्रबन्ध कर के अन्यत्र चला गया। थोड़ी देर के बाद लौट कर देखता हूँ कि पियर्सन साहब नदारद हैं। मक्खन से पूछने पर मालूम हुआ कि मेरे जाने के थोड़ी देर बाद ही कोट, पेन्ट की

जगह धोती, कुर्ता पहिन कर गङ्गा की ओर चले गए थे। अब मैं उन की तलाश में गङ्गा की ओर चला वहाँ। जाकर देखता हूँ तो वह गङ्गा के किनारे रेत में से छोटे-छोटे पत्थरों को उठाते और पानी में फेंक कर आनन्द ले रहे हैं। मैं पास पहुँचा तो अत्यन्त प्रसन्न मुख हो कर मुझ से कहने लगे, 'ओह, यह तो बहुत ही प्यारी जगह है, मैं तो यहाँ आ कर अपने आपको भूल गया। मुझे तो इस ने अपनी मातृभूमि स्काटलैंड के दृश्य याद करा दिये।'

जिन दिनों की घटना सुनाने लगा हूँ, उन दिनों मैं दिल्ली में 'सद्धर्म प्रचारक का सम्पादन करता था। दक्षिण अफ्रीका से एक हिन्दुस्तानी ईसाई बैरिस्टर भारत भ्रमण के लिए आए थे। उन का नाम सम्भवतः मिस्टर गौडफ्रे था। मैं देहली से उन के साथ गया। हरिद्वार स्टेशन से कनखल तक घोड़ा गाड़ी में गए। कनखल पहुँच कर जब मिस्टर गौडफ्रे ने रेत और पत्थर के रास्ते पर दृष्टि डाली तो घबरा गए, उन की आयु लगभग ५० वर्ष की होगी। वह कोट, पैण्ट और अङ्गरेजी टोपी पहिने हुए थे। मैंने उन की घबराहट देख कर घोड़ा गाड़ी वाले को गुरुकुल चलने के लिये पूछा, पर वह तैयार न हुआ। उस गहरी रेत और उन भारी-भारी गोल पत्थरों पर से सवारी को खींच ले जाना गऊ के जायों के बस की ही बात थी। घोड़ा ऐसी जगह जवाब दे जाता है। मि०

गौडफ्रे ने भी जब यह लाचारी देखी तो हिम्मत बाँध कर पैदल जाने को तैयार हो गए और आलङ्कारिक भाषा में कह सकते हैं कि उस रेत और पत्थर के दरिया में अपनी पैदल किश्ती छोड़ दी। हम लोग चल दिए। मिस्टर गौडफ्रे चल तो दिए, परन्तु उन पर परेशानी इस बुरी तरह सवार थी कि चुपचाप चले जा रहे थे। बार-बार पसीना आता था, जिसे रूमाल से पोंछते जाते थे। मैंने कई वार बात में लगाने की कोशिश की, किन्तु वह चुप थे। मैं समझ गया कि आज एक बुजुर्ग पर बहुत कठोरता हो गई। जब गुरुकुल पहुँचे तब काफी दिन चढ़ चुका था। स्नानादि की व्यवस्था कर के मैं चला गया और फिर लगभग एक घण्टे के पीछे वापिस आया तो देखा कि मिस्टर गौडफ्रे वाटिका में टहल रहे हैं। मेरे जाते ही उन्होंने कहा—पंडित जी, मैं रास्ते में आप से बहुत नाराज था, परन्तु यहाँ आकर और इस जगह को देख कर मेरी सब थकान उतर गई और अब मैं आप का धन्यवाद करता हूँ कि आप मुझे ऐसे स्वर्गीय स्थान में ले आए।

सोलहवाँ परिच्छेद

प्राचीन और नवीन का संघर्ष

इन संस्मरणों से मैंने यथाशक्ति अपने व्यक्तित्व को गौण रखने का यत्न किया है। इस घटना-चक्र में वस्तुतः वह था

भी गौण ही। जिस घटना-चक्र की यह सच्ची कहानी है, उस के मुख्य पात्र पिता जी थे। सहायक पात्र अवस्थानुसार बदलते रहे। पिता जी का जीवन एक अत्यन्त प्रगतिशील जीवन था। शायद ही कोई पाँच साल ऐसे हों, जिन में उस जीवन की दृश्यावली में पूरा परिवर्तन न हो गया हो। दृश्य निरन्तर बदलते जाते थे और सब से महत्वपूर्ण बात यह थी कि वह परिवर्तन पिता जी की ही इच्छा-शक्ति और प्रयत्न से होते थे। पिता जी परिस्थितियों को पैदा करते थे, उन के बहाव में नहीं थे। हम दोनों भाई उन के चलाए हुए घटना-प्रवाह में काठ की तरह तैर रहे थे।

अब मैं जिस घटना का विवरण देने लगा हूँ उस में पाठक थोड़ा सा भेद पाएंगे। उस में मुझे कुछ आप-बीती सुनानी पड़ेगी। इस भेद का कारण यह है कि गुरुकुल की चिकित्सा-प्रणाली में जो परिवर्तन हुआ उस को मेरे जीवन की एक घटना से प्रबल प्रेरणा मिली है।

उस समय मेरी आयु १४ साल की होगी। इन संस्मरणों में इस से पूर्व मैं बतला चुका हूँ कि बचपन में मैं बहुत बीमार रहा। गुरुकुल में प्रवेश के समय मैं उन बच्चों में गिना जाता था जिन के शरीर निर्बल थे। गुरुकुल में व्यायाम और सात्विक भोजन से मेरा शरीर पुष्ट होने लगा। सब प्रकार के खेलों में मैं साधारण रूप से अच्छा समझा जाता था। कुश्तियों में ब्रह्म-

चारियों में शायद मेरा नम्बर पहला था। शायद शब्द मैंने इस लिये लगा दिया कि उस समय के मेरे साथियों में से यदि कोई मेरी स्थापना को गलत समझें तो मैं इसे एक दम वापस ले लूंगा। शरीर हल्का होने के कारण मुझे भारी शरीर वालों से कुश्ती लड़ने में बहुत सहूलियत रहती थी। बिजनौर जिले के एक वकील थे, जिन का नाम चौधरी नारायणसिंह था। वह बरसात के दिनों में हम लोगों को कुश्ती सिखाने आया करते थे। मैं उन का प्रधान शिष्य था। कुश्ती ने मेरे शरीर को मोटा होने से बचाया और मजबूत बना दिया।

मेरी ऐसी शारीरिक दशा थी, जब मलेरिया ने मुझे दबा लिया। हर दूसरे रोज़ जाड़े के साथ बुखार आने लगा। उस समय की प्रचलित पद्धति के अनुसार बुखार को व्यायाम से दबाने की चेष्टा की गई, उस के निष्फल होने पर कुछ दिनों तक दूध में घी डाल कर दिया गया, तब भी बुखार न टूटा तो पिटारी की गोलियों का प्रयोग किया गया, परन्तु मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की। उन दिनों डाक्टर सुखदेव जी गुरुकुल में आ चुके थे, परन्तु जहाँ तक मुझे याद है अभी गुरुकुल के चिकित्सक नहीं बने थे। उन्हें मेरी दशा पर तरस आया तो उन्होंने प्रधान जी से कहा कि 'इन्द्र को मलेरिया बुखार आ रहा है, इसे जब तक कुनीन न दी जायेगी, बुखार का टूटना असम्भव है।' प्रधान जी ने इस बात से सहमत हो कर आचार्य जी से सलाह

की। आचार्य जी को मुझ से बहुत प्रेम था। उन्होंने पिता जी को जो उत्तर दिया वह मुझे अब तक यद है। उन्होंने कहा—"लड़के को कुनीन देने से तो यह अच्छा है कि उसे जहर दे दिया जाए।" इस पर पिता जी चुप हो गये, परन्तु डाक्टर सुखदेव जी चुप नहीं हुए, उन्होंने कुनीन देने का आग्रह जारी रखा। जो लोग डाक्टर सुखदेव जी को जानते हैं, उन्हें विदित है कि अपनी धुन में रहना और अपनी बात पर अड़ना उन के चरित्र का प्रधान अङ्ग है। जिन की दृष्टि में डाक्टर सुखदेव जी अच्छे हैं वे उपर्युक्त विशेषता को चरित्र-बल के नाम से पुकारते हैं, और जिन्हें वे अच्छे नहीं लगते, वे इसी विशेषता को उन का दोष मानते हैं। सो डाक्टर जी अड़ गए और यह नोटिस दे दिया कि यदि इन्द्र को एक बारी पर और बुखार आएगा तो मैं उसे कुनीन अवश्य दूंगा, चाहे उस का परिणाम कुछ ही हो। पिताजी ने डाक्टर जी का यह दृढ़ निश्चय आचार्य जी को बतला दिया, और साथ ही अपनी सम्मति भी प्रकट कर दी। चैलेन्ज मिलने पर आचार्य जी ने अपनी दवा की मात्रा बढ़ा दी, जिस का परिणाम यह हुआ कि बुखार भी अभूतपूर्व प्रकम्पन और गर्जन के साथ चढ़ा। टैम्प्रेचर १०५ से ऊपर पहुँचा। उस बुखार ने डाक्टर जी को आचार्य जी पर पहली विजय प्राप्त करने का अवसर दिया। १०५ दर्जे की दशा में मेरे इलाज का उत्तरदायित्व डाक्टर जी को दे

"यह तो आकस्मिक बात है कि बुखार कम आया"। मैं बतला देना चाहता हूँ कि चिकित्सा पद्धतियों के उस संघर्ष में उस समय मेरी सहानुभूति कुनीन के पक्ष में थी, क्योंकि मैं हर दूसरे रोज आने वाले बुखार से बहुत ही परेशान हो चुका था। उसकी अपेक्षा तो मुझे कोई भी बला अच्छी मालूम देती थी।

बारी के अगले दिन कुनीन का फिर उसी जोर से प्रयोग किया गया। सम्भव है कि कुछ अधिक मात्रा ही दी गई हो। उस दिन बुखार नहीं आया। मलेरिया कुनीन के आगे भाग निकला। इस सफलता ने गुरुकुल में कुनीन और उस के साथ ही एलोपैथिक चिकित्सा के पाँव फिर से जमा दिये। गुरुकुल और उस के आस पास चिकित्सक के तौर पर डा० सुखदेव जी की धाक उसी समय से बैठ गई। यह प्राचीनता के गढ़ में नवीनता के प्रवेश की दूसरी घटना थी।

आगे चलने से पहिले यहां पं० गंगादत्त जी के और डाक्टर सुखदेव जी के संघर्ष की एक और बात भी सुना देता हूँ। डाक्टर जी पैदायशी प्रचारक (मिशनरी) हैं। कोई न कोई धुन उन पर हमेशा सवार रहती है। उन दिनों कुनीन प्रचार के कार्य में सफलता हो जाने पर, उन्हें दूसरी धुन यह सवार हुई कि गुरुकुल के मेहतरों को अपनाया जाय। डाक्टर जी उनके घरों में जाकर सफाई का उपदेश देने लगे, और उनके बच्चों को पढ़ाने का उपक्रम कर दिया। इस पर

विरोध का जो तूफान उठा वह कुनीन-विरोधी आन्दोलन से भी बड़ा था। अध्यापकों में ब्रह्मचारियों में और नौकरों तक में इस की चर्चा होने लगी, उस चर्चा में डाक्टर जी के विरुद्ध उचित, अनुचित सभी तरह की बातें कहीं गई। पिता जी पर आचार्य जी तथा अन्य कार्यकर्ताओं की ओर से जोर डाला गया कि वह डाक्टर जी को इस कार्य से रोकें। पिता जी ने स्पष्ट उत्तर दिया कि वह डाक्टर जी के कार्य को धर्मानुकूल और आवश्यक मानते हैं, इस कारण उन्हें रोकने की जरूरत नहीं समझते। यह संघर्ष कई महीनों तक, सम्भवतः डेढ़ दो साल तक चला। धीरे-धीरे ठंडा होने लगा और अन्त में न केवल शान्त हो गया, अपितु दलितोद्धार के पक्ष में प्रबल आन्दोलन के रूप में परिणत हो गया, जिसमें ब्रह्मचारियों की सहानुभूति भी सम्मिलित थी।

गुरुकुल के प्रारम्भिक प्रास्पेक्टस में यह विचार स्पष्ट रूप में लिखा गया था कि गुरुकुल में भारतीय विद्याओं के साथ-साथ पश्चिम की नवीन व्यावहारिक विद्याओं की शिक्षा भी दी जायगी। इस कारण गुरुकुल में पूर्व और पश्चिम की उपादेय बातों के समावेश की भावना नई नहीं थी। पिता जी का इससे पूर्व का सारा जीवन इतना प्रगतिशील था कि उसमें अपरिवर्तनवादिता के लिए कोई गुंजाइश नहीं थी। फिर भी प्रारम्भिक वर्षों में गुरुकुल में इतना विचार संघर्ष हो गया

इसका मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि शुरु में पिता जी को जो सहायक मिले, उनमें गुरुकुल को चलाने की अन्य बहुत सी योग्यताएं होते हुए भी उनके दृष्टि-क्षेत्र बहुत संकुचित थे। आचार्य गंगादत्त जी एक तपस्वी विद्वान् थे। ब्रह्मचर्य में उनकी दृढ़ निष्ठा थी। जब तक वह गुरुकुल में आचार्य रहे, अपनी सम्मति के अनुसार ब्रह्मचारियों के हित चिन्तन और चरित्र-निर्माण का भरसक यत्न करते रहे। इन अर्थों में वे सच्चे आचार्य थे। स्वयं सदाचारी थे, और ब्रह्मचारियों को सदाचारी बनाना चाहते थे। व्यायाम के वह पुजारी थे। इन सब गुणों के साथ ही उनमें एक विशेषता यह थी कि उनका दृष्टिकोण परिमित था। परिस्थितियों के साथ मेल करने के लिए आवश्यक परिवर्तन करना उनके स्वभाव के विरुद्ध था। इस कारण जब भी कोई नवीन वस्तु गुरुकुल में प्रवेश करने लगती थी, तब आचार्य जी उसे सन्देह की दृष्टि से देखते थे। पिता जी आचार्य जी का आदर करते थे, और उनसे स्नेह भी करते थे। यथासम्भव वह किसी बात में भी उनकी सम्मति के विरुद्ध नहीं चलना चाहते थे, परन्तु जब कोई परिवर्तन आवश्यक हो जाता था तो आचार्य जी की अनिच्छा को काफी रियायत देकर, कुछ समय के पश्चात् परिवर्तन हो जाने देते थे। कभी-कभी तो बहुत ही छोटी सी बात पर मतभेद खड़ा हो जाता था। एक बार यह विचार हुआ कि

संन्यासी श्रद्धानन्द जी (संन्यास-दीक्षा लेते हुए)

७

डॉक्टर सुखदेव जी

हमें साइंस के कुछ सिद्धान्त बतलाए जाँय। एक अध्यापक ने साइंस की प्राइमर लेकर मौखिक रूप से ही यह समझाया कि पानी दो गैसों के मिलने से बनता है। जब हम ने आश्रम में जा कर इस बात की चर्चा की तो संस्कृत के अध्यापक-मंडल की ओर से घोर विरोध किया गया और कहा गया कि जल तो पदार्थ है, वह दो गैसों से कैसे बन सकता है। इसी आधार पर साइंस की पढ़ाई का विरोध बहुत दिनों तक होता रहा।

उन दिनों का एक छोटा सा चुटकुला याद आता है। वह भी लिख देता हूँ। एक पंडित जी थे जिन्होंने व्याकरण और धर्मशास्त्र तो पढ़ा था परंतु साहित्य से अनभिज्ञ थे। एक दिन हम लोगों से कहने लगे कि नवीन संस्कृत-साहित्य बिल्कुल नहीं पढ़ना चाहिये, क्योंकि वह श्रृङ्गाररस से पूर्ण है। मैंने कहा—पंडित जी सारा नवीन संस्कृत-साहित्य खराब नहीं है। दृष्टान्त के लिए वेणीसंहार को ले लीजिए, उसमें श्रृङ्गार का लेश भी नहीं है। इस पर पंडित जी हँस कर बोले—वाह, इसके तो नाम से ही श्रृङ्गार प्रकट होता है, क्योंकि नाम ही वेणीश्रृङ्गार है। इस पर ब्रह्मचारी हँस पड़े। पंडित जी ने शायद हमारे हँसने से भी वही परिणाम निकाला होगा कि वेणीश्रृङ्गार जैसे अश्लील नाटक के पढ़ने से इनके दिमाग खराब हो गए हैं।

—

सत्रहवाँ परिच्छेद

सरकारी कोप की घटा

मैं इस से पहिले के परिच्छेदों में बतला आया हूँ कि बंग-विच्छेद के दिनों से ही गुरुकुल काँगड़ी के सिर पर सरकारी कोप के काले बादल घिर आये थे। सरकार के सन्देह के कई कारण थे। गङ्गा के उस पार, दुनियां से अलग-थलग, सर्वथा स्वतन्त्र उपनिवेश के रूप में गुरुकुल सिर उठाये खड़ा था। गुरुकुल विश्वविद्यालय भारतवर्ष में उस समय एकमात्र ऐसा शिक्षणालय था जो किसी प्रकार भी सरकार के नियन्त्रण में नहीं था। गुरुकुल के अधिकारी सरकारी अफसरों की खुशामद नहीं करते थे और गुरुकुल के छात्र अङ्गरेजों को सलाम करना नहीं जानते थे। उन दिनों हमारा राजनीतिक आन्दोलन प्रारम्भिक अवस्था में था। शासकों के दिमाग अभी उसे समझ नहीं पाये थे। अभी उन की मानसिक अवस्था फ्रांस के राजा १६ वें लुई जैसी थी। जब फ्रांस में क्रान्ति का सूत्रपात हुआ और पहिली वार पेरिस की जनता ट्यूलरीज के महलों के नीचे इकट्ठी हो कर 'भूख, भूख' का शोर मचा रही थी और सम्राट् से रोटी माँग रही थी, तब लुई ने वजीर से कहा था—वह क्या शोर मच रहा है ? क्या यह बगावत है ?

वज़ीर ने उत्तर दिया—'नहीं महाराज ! यह बगावत नहीं, यह क्रांति है ।'

उस समय तक भारत के शासक यही समझ रहे थे कि बंगाल और पंजाब में जो तूफान उठा है, वह गुलाम भारत-वासियों की बगावत है, इस कारण वे समझते थे कि इन बाग़ियों के दिमाग में से सलाम करा कर बग़ावत को निकाला जा सकता है। इस प्रसङ्ग में मैं एक छोटी-सी आप-बीती सुना दूं तो अनुचित न होगा।

उस वर्ष हम लोग सरस्वती-यात्रा के लिये धर्मशाला के पहाड़ पर गये थे। ब्रह्मचारियों के साथ प्रधान जी (पिता जी) के अतिरिक्त कई प्रसिद्ध आर्य-समाजी भी थे। एक दिन प्रातः काल के समय कुछ विद्यार्थी छावनी की सड़क पर घूमने के लिए जा निकले। हम लोगों के साथ अधिष्ठाता के रूप में डाक्टर सुखदेव जी थे। ब्रह्मचारियों के सिर नंगे थे और हाथों में डण्डे थे। हम लोग बातें करते हुए जा रहे थे कि सामने से दो गोरे घुड़सवार आते दिखाई दिये। जब वे पास आए तब हम सड़क के एक किनारे हो कर चलने लगे और समझा कि हम ने बीच का रास्ता छोड़ कर शिष्टाचार का परिचय दे दिया है। परन्तु गौरांग जाति के उन प्रतिनिधियों ने वैसा नहीं समझा। मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब मैंने देखा कि एक गोरे ने अपना घोड़ा मध्य रास्ते को छोड़ कर मेरी ओर

बढ़ा दिया है। मैं यह अद्भुत बात देख कर खड़ा हो गया। गोरे का घोड़ा मेरे इतने पास आ गया था कि घोड़े की थूथनी का साँस मेरे शरीर को छू रहा था। मैं विस्मित हो कर गोरे के मुंह की ओर देखने लगा। वह शायद आशा रखता था कि मैं उस की और उस के घोड़े की शकल देख कर या तो भाग खड़ा हूँगा या ज़मीन पर नाक रगड़ने लगूंगा। परन्तु मैंने वैसा कुछ भी नहीं किया और जहाँ का तहाँ खड़ा रहा। इस पर अत्यन्त क्रोध भरे स्वर से उसने कहा—'सलाम करो, सलाम !'

मैंने वहीं खड़े-खड़े उत्तर दिया—'क्यों सलाम करें ?'

इस उत्तर से और भी भड़क कर गोरे ने अपने घोड़े को और भी आगे बढ़ाते हुए अङ्गरेजी में कहा—'तुम्हें चाहिये कि हरेक अङ्गरेज़ को सलाम करो।'

घोड़े का मुंह बिल्कुल मेरी छाती से लग गया था। पर मैं वहीं अचल खड़ा रहा। मैंने शान्त-भाव से उत्तर दिया—"ऐसा कोई कानून नहीं जो हम से जबरदस्ती सलाम करा सके।"

गोरे ने फिर कहा—'तुम सलाम नहीं करेगा ?'

मैंने उत्तर दिया—नहीं।

अब गोरे के सामने दो रास्ते खुले थे। या तो वह घोड़ा मुझ पर चढ़ा देता अथवा हार मान कर, सलाम लिए बिना

ही अपना रास्ता नापता। लगभग एक मिनट तक मैं, गोरा और उस का घोड़ा उसी स्थिति में खड़े रहे। मैं और मेरे सब साथी इस प्रतीक्षा में रहे कि अब क्या होता है। अन्त में गोरा केवल 'बुली' साबित हुआ और घोड़े की बाग खींच कर यह कहते हुए वहाँ से चल दिया—'टुम सलाम नहीं करटा, अच्छा डेखा जायगा।'

यह मैंने उस समय की अङ्ग्रेजी मनोवृत्ति का एक नमूना दिया है। उपर्युक्त घटना उस समय गुरुकुल से निकलने वाले 'वैदिक मेगजीन' नामक पत्र में प्रकाशित की गई थी, और सिपाही की शिकायत धर्मशाला के कमान्डिग आफिसर के पास भी भेजी गई थी। कमान्डिग आफिसर ने घटना पर दुःख प्रकट करते हुए गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता को (पिताजी को) जो पत्र लिखा, उस में यह आशा दिलाई थी कि सिपाही को चेतावनी दे दी जायगी। यह सब केवल रिवाज ही था। क्यों कि कुछ दिन पीछे धर्मशाला में ही हमारे एक दूसरे साथी के साथ फिर वैसी ही घटना घटित हुई।

नौकरशाही शासन में जो झुकना या सलाम करना नहीं जाने, वह सन्देह की दृष्टि से देखा जाता था। गुरुकुल के अधिकारियों और ब्रह्मचारियों का सब से बड़ा दोष यही था कि वे न सरकार से कुछ माँगते थे और न अफ़सरों की वह-लीज पर सिर झुकाना आवश्यक समझते थे।

गुरुकुल पर सरकार की यह सन्देह-दृष्टि अनेक बातों में प्रकट होती थी। गुरुकुल में दर्शक रूप से आने वाले खुफिया पुलिस के ऊंचे अधिकारियों का ताँता लगा रहता था। जब कभी गुरुकुल के ब्रह्मचारी सरस्वती यात्राओं पर निकलते थे, तब उनके पीछे-पीछे गुप्तचर बुलडॉग की तरह लगे रहते थे और गुरुकुल के जो कार्य सरकार के सहयोग की अपेक्षा करते थे, उन में रोड़े अटकाए जाते थे।

एक वार की बात है, शायद सितम्बर का महीना था, पिता जी स्वास्थ्य-सुधार के लिए क्वेटा गये हुए थे। गुरुकुल काँगड़ी से तीन मील की दूरी पर चण्डी पहाड़ के नीचे बिजनौर के कलक्टर, जिनका नाम शायद फोर्ड था, डेरा डाले पड़े थे। गुरुकुल में पिता जी की अनुपस्थिति के कारण स्वर्गीय आचार्य रामदेव जी अथवा स्वर्गीय प्रो० बालकृष्ण जी में से कोई महानुभाव मुख्याधिष्ठाता का कार्य कर रहे थे। गुरुकुल में खबर पहुँची कि सरकार को गुरुकुल में हथियारों के गुप्त स्टोर होने का अन्देशा है। इस कारण गुरुकुल की तलाशी लेने के लिए और यदि आवश्यकता हो तो अन्य कठोर कार्यवाही करने के लिए स्वयं कलैक्टर साहब तशरीफ़ लाए हैं। सम्भव है दो-चार दिन में तलाशी हो जाए। शस्त्रास्त्रों का कोई गुप्त स्टोर न होते हुए भी समाचार बहुत सनसनी-पूर्ण था, जिससे प्रभावित होकर गुरुकुल कार्यालय से पिता जी को इस आशय

का तार दिया गया, कि स्थिति गम्भीर है, जल्दी आइये।

पिता जी देखने से खूब लम्बे-चौड़े और हृष्ट-पुष्ट होते हुए भी कई रोगों के शिकार बने हुए थे। बवासीर का रोग उन्हें पैतृक मिला था। प्रौढ़ावस्था में हर्निया की शिकायत हो गई थी और साथ ही निरन्तर मानसिक परिश्रम करने के कारण आधे सिर का दर्द रहने लगा था। कई वर्षों तक तो पिता जी ने न रोगों की पर्वा की, और न चिकित्सकों की। परन्तु जब अन्त में निरन्तर सिर दर्द के कारण कार्य करना भी असम्भव हो गया, तब एक-दो महीने तक विश्राम करने के लिये क्वेटा चले गए थे। वहां पहुँचे अभी सम्भवतः १० दिन भी नहीं हुए होंगे कि गुरुकुल से उपर्युक्त तार पहुँच गया, जो सैंकड़ों मीलों का सफर करा कर और सिंध की गरम हवा और रेत का स्नान करा कर तीसरे दिन पिता जी को हरिद्वार खेंच लाया।

क्वेटे से वापिस आने पर पिता जी को जब समाचार मालूम हुए तो उन्होंने अपने स्वभावानुसार शेर की गुफा में पहुँच कर उससे दो-दो बातें करने का निश्चय किया। उसी रोज अथवा उस से अगले रोज आप गुरुकुल के सवारी बैल-तांगे में बैठ कर कलैक्टर के कैम्प पर जा पहुँचे और मिलने के लिए अपना कार्ड भेज दिया। कलैक्टर, जो शायद उसी समय तलाशी के वारंट पर हस्ताक्षर करके चुका था, दुविधा

में पड़ गया। पुलिस ने तो यह रिपोर्ट दी थी कि महात्मा मुन्शीराम गुरुकुल से चले गए हैं और उनके स्थान पर अनुभवहीन क्रांतिकारी नौजवान गुरुकुल का संचालन कर रहे हैं। यदि गुरुकुल की तलाशी लेनी है तो यही अच्छा मौका है तथा भविष्य के लिए इस खतरनाक संस्था से छुटकारा पाने का भी यही अवसर है। इस रिपोर्ट के आधार पर ही सब तैयारी की गई थी। ऐसे समय अकस्मात् पिता जी के नाम का विज़िटिंग कार्ड प्राप्त कर के कलेक्टर थोड़ी देर के लिए चक्कर में आ गया कि क्या करें। पुलिस की दौड़ लेकर गुरुकुल की ओर कूच करें या उसके गवर्नर से बातचीत करने में समय व्यतीत करें।

अंग्रेज, चाहे वह कैसा भी हो, बँधे हुए रिवाजों का मानने वाला होता है। इसे उसके स्वभाव का दोष कहो या गुण, है यह उसकी प्रकृति। एक सज्जन ने विज़िटिंग कार्ड भेजा है तो प्रचलित रिवाज कहता है कि उसे मिलने के लिए बुलाना चाहिए। मिस्टर फोर्ड ने भी पिता जी को मिलने के लिए अपने खेमे में बुला लिया।

उस बातचीत में क्या हुआ, यह लिखने की आवश्यकता नहीं है। इतना बतला देना पर्याप्त है कि उसका परिणाम क्या हुआ। उस दिन की बातचीत में जो बीजपात हुआ, वह

कुछ वर्षों में भारत के वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड द्वारा गुरुकुल कांगड़ी की तीर्थ यात्रा के रूप में फलीभूत हुआ। वायसराय के गुरुकुल आगमन को शायद कुछ लोग सरकारी अफसर द्वारा एक शिक्षण संस्था के निरीक्षण का रूप दें, परन्तु जिन लोगों ने उस घटना को आदि से अन्त तक देखा था, उन्हें यह विश्वास हो गया है कि वायसराय का गुरुकुलागमन केवल सरकारी दौरे का हिस्सा नहीं था, प्रत्युत उसमें कुछ प्रयोजन और भावुकता का अंश भी था।

पाठक उस भावुकता का रूप और कारण जानने के लिए अवश्य उत्सुक होंगे। सम्भव है मेरे दिये हुए समाधान में से पाठकों को उस पक्षपात की बू आए जो स्वभावतः किसी पुत्र को अपने महान् पिता के लिए होनी चाहिये। इस खतरे को उठा कर भी मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि इसका मुख्य कारण पिता जी का गौरवयुक्त और आकर्षक व्यक्तित्व ही था। विदेशियों पर उनके व्यक्तित्व का अद्भुत असर पड़ता था। मेरे पास उनके कई अंग्रेज, अमेरिकन तथा अन्य विदेशी मित्रों और भक्तों के बीसियों पत्र संभाल कर रक्खे हुए हैं, जिन से प्रतीत होता है कि वे लोग निजू रूप में भी पिता जी के प्रति गहरे प्रेम और भक्ति की भावना रखते थे। युक्तप्रांत के उस समय के गवर्नर लार्ड मेस्टन (जो उस समय सर जेम्स मेस्टन थे) मि मैकडानल्ड, जो उस समय अङ्गरेजी पार्लिया-

मेंट में मजदूर दल के नेता थे। (और पीछे इङ्गलैन्ड के प्राइममिनिस्टर बने) दीनबन्धु सी० एफ० एण्डरूज तथा प्रसिद्ध अमेरिकन पत्रकार मि० फैल्प्स आदि के नाम गुरुकुल का पुराना इतिहास जानने वालों को विदित ही हैं। इन प्रसिद्ध नामों के अतिरिक्त कुछ अन्य दृष्टान्त भी ऐसे थे जिन से पिता जी का व्यक्तिगत आकर्षण और भी अधिक स्पष्टता से प्रतीत होता था।

ऐसा एक दृष्टान्त मैं यहाँ देता हूं। उन्हीं दिनों की बात है, कि रुड़की से एक नए ज्वाइन्ट मजिस्ट्रेट आए। वह आयरलैंड के-सम्भवतः उत्तरीय आयरलैंड के निवासी थे। उनका नाम लिखना यहां आवश्यक नहीं। वह दौरे पर हरिद्वार पहुंचे तो शायद एक विद्रोही संस्था को देखने की उत्सुकता से गुरुकुल भी गये, वहां मुख्याधिष्ठाता के बंगले पर जा कर लगभग एक घन्टे तक उन से बातचीत की। उस बातचीत का परिणाम यह निकला कि वे सज्जन पिता जी के शिष्यों में शामिल हो गए। उनके हरिद्वार के दौरों की संख्या बढ़ गई और हरेक दौरे में गुरुकुल का एक चक्कर लगाना आवश्यक सा हो गया। उन की मिलनसारी और खुशमिजाजी का एक नमूना काफी मनोरंजक है। अप्रासंगिक होते हुए भी मेरे लिए उसके लिखने का प्रलोभन संवरण करना कठिन है। उन्हें हिन्दुस्तानी में बोलने का बहुत शौक

था। उन दिनों गंगा के पुल का ठेका एक ऐसे सज्जन के हाथ में था, जो गुरुकुल के परम हितैषी थे, किन्तु दैववशात आंखों से भैंगे थे। आयरिश महोदय जब कभी ठेकेदार की चर्चा करते, तब कहा करते थे कि मुझे बचपन में भैंगे आदमी से बहुत डराया जाता था। इस लिए अब भी मुझे ठेकेदार को देख कर डर लगता है। इधर गुरुकुल में एक प्रोफेसर थे, जो प्रकृति देवी की कृपा से काने थे। वह किसी कारण से गुरुकुल से रूठ गए और हरिद्वार में बैठ कर गुरुकुल के विरुद्ध पैम्फलेट आदि द्वारा प्रचार का कार्य करने लगे। उन्हीं दिनों आयरिश महोदय गुरुकुल आए। उन से एकाक्ष प्रोफेसर की चर्चा हुई, तो उन्होंने हिन्दुस्तानी में कहा— अब मुझे ठेकेदार से डर नहीं लगता क्योंकि मैंने यह भी सुना है कि,—

ऐंचाताना करे पुकार,
मैं काने से मानी हार।

बात मजेदार और लगती हुई थी। इस लिए याद रह गई। अब प्रसंगागत बात सुनिए—

एक दिन वे आयरिश महोदय पिता जी के पास आए और कहा कि मैं विवाह करने के लिए कुछ महिनों की छुट्टी पर जा रहा हूँ। मुझे कुछ सन्देश दीजिए। पिता जी ने कहा कि इस समय तो मैं तुम्हारे लिए केवल मंगलकामना करता हूँ। जब तुम अपनी अर्धाङ्गिनी सहित वापिस आओगे सन्देश

उस समय दूंगा। वह सज्जन विवाह के लिए चले गए। कई महीनों के पश्चात् जब पत्नी सहित लौटे तो रुड़की से पहिला अवसर तलाश करके गुरुकुल आए और पत्नी सहित पिता जी के पास पहुँचे। पिता जी ने उन्हें संयम और निरामिष भोजन का उपदेश दिया। वह आयरिश सज्जन क्रम से कलैक्टर के पद पर पहुँच कर कमिश्नर तक बने और युक्तप्रात के अनेक राजकीय अधिकारों पर रहे। इस सम्पूर्ण समय में वह निरन्तर पिता जी से पत्र-व्यवहार करते रहे, जिस में अपनी प्रेम और भक्ति की भावना को सदा प्रकट करते रहे।

पिता जी के बलिदान के बाद एक बार अखबारों में पढ़ा था कि कहीं के कमिश्नर होते हुए उस आयरिश महानुभाव ने एक फैसले में इलाहाबाद हाई कोर्ट के जजों को किसी मुकदमें का सही फैसला न करने पर जोरदार फटकार बतला दी थी, जिसके कारण नौकरशाही प्रणाली के सिद्धान्त के अनुसार उन्हें समय से पहले नौकरी से रिटायर हो जाना पड़ा। हम लोगों को उन के इस प्रकार रिटायर किए जाने पर कोई आश्चर्य नहीं हुआ, क्योंकि हम तो इस पर आश्चर्यित थे कि वे इतने दिनों तक नौकरशाही मशीन के पुर्जे कैसे बने रहे?

दीनबन्धु सी० एफ० एन्डरूज़ से पिता जी का जो प्रेममय सम्बन्ध था, वह लोक-विदित है। लार्ड मेस्टन पर गुरुकुल का

और पिता जी का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा था कि लोग उन्हें गुरुकुल वाला कहने लगे थे।

अठारहवाँ परिच्छेद

गुरुकुल में वायसराय का आगमन

पिता जी के मिस्टर फोर्ड से मिलने के पश्चात् घटनाचक्र बड़े वेग से उलटी ओर चलने लगा। मिस्टर फोर्ड से मिलने के कुछ ही दिन बाद कुछ मित्रों ने बीच में पड़ कर पिता जी की युक्तप्रांत के गवर्नर सर जेम्स मेस्टन से मुलाकात करा दी। सर जेम्स मेस्टन ने गुरुकुल देखने की उत्सुकता प्रकट की या गुरुकुल की ओर से दिये हुए निमन्त्रण को स्वीकार किया, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। सम्भवतः दोनों ही काम एक ही समय में हो गए। फलतः सर जेम्स मेस्टन धूम-धाम से गुरुकुल पधारे। उन का शानदार स्वागत हुआ। जिस के उत्तर में उन्होंने गुरुकुल के प्रति अपना संतोष और कुछ दबा हुआ भक्ति-भाव प्रकट किया। व्यक्तिगत रूप से पिता जी के प्रति सर जेम्स मेस्टन ने विशेष आदरभाव प्रकाशित किया।

यह सिलसिला और आगे चला। सर जेम्स ने इशारा

दिया कि क्यों न आप वायसराय को भी निमन्त्रित करें, क्योंकि लार्ड चेम्सफोर्ड (उस समय के वायसराय) शिक्षा के बहुत प्रेमी हैं, वह गुरुकुल आना पसन्द करेंगे। यह इशारा पा कर पिता जी ने लार्ड चेम्सफोर्ड को गुरुकुल आने का निमन्त्रण भेजा, जो तत्काल स्वीकार कर लिया गया। तद-नुसार एक दिन प्रातःकाल हरिद्वार से राजसी महन्तों के सजे हुए हाथियों पर सवार हो कर लार्ड चेम्सफोर्ड, लेडी चेम्सफोर्ड सर जेम्स मेस्टन और अन्य बहुत से छुटभइये अफसर गुरुकुल भूमि में पहुँचे। लार्ड चेम्सफोर्ड और उन की पार्टी का गुरुकुल की ओर से हार्दिक स्वागत किया गया। संस्था के सभी मुख्य-मुख्य भाग उन्होंने पैदल घूम कर देखे। अन्त में उन्हें पुण्य-भूमि के महाविद्यालय भवन के सामने सेमल के पेड़ के चबूतरे के नीचे संस्कृत में अभिनन्दन-पत्र पेश किया गया। उत्तर में आप ने भी गुरुकुल के आदर्शों की और पिता जी के व्यक्तित्व की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की।

वायसराय की गुरुकुल यात्रा के समय मैं गुरुकुल की शिक्षा समाप्त कर चुका था और वहीं उपाध्याय (शिक्षण) का कार्य करता था। उस समय दो-तीन घटनाएं मुझे स्मरण हैं, जो बहुत छोटी-छोटी हैं परन्तु समय और प्रवृत्तियों को सूचित करने वाली अवश्य हैं। इस लिये उन का उल्लेख कर देता हूँ।

पहली घटना भोजन भण्डार के चबूतरे पर हुई। चबूतरे के पास पहुँच कर वायसराय और उन की पत्नी को सूचना दी गई कि इस से आगे जूता नहीं जा सकता और साथ ही प्रार्थना की गई कि भंडार देखने की कृपा कीजिये। क्षण भर के लिये तो वे दुविधा में पड़ गए कि किन शब्दों में इन्कार करें, क्योंकि नंगे पांव तो चलना उन के लिए असम्भव ही था। इतने में पिता जी के सेवक ने जिस का नाम चिन्ता (सिंह) था, कपड़े के बहुत से जूते लाकर दर्शकों के कदमों के आगे रख दिए और वायसराय से प्रार्थना की गई कि आप चमड़े के जूते उतार कर कपड़े के जूते पहनाने की अनुमति दीजिए। इस पर वायसराय और उन की पत्नी ने अनुमति दे दी और उन्हीं के सेवकों ने वायसराय और उन की पार्टी के पैरों में से चमड़े के जूते उतार कर कपड़े के जूते पहना दिए। यह अनुभव उन के लिए इतना नया और अच्छा था, कि भण्डार देखने के समय वायसराय और उन की पत्नी हंसते और कपड़े के जूतों का आनन्द लेते रहे।

दूसरी घटना संस्कृत क्लब में हुई। ब्रह्मचारियों के संस्कृत भाषण का प्रदर्शन करने के लिए विशेष सभा की योजना की गई थी, जिस में ब्रह्मचारियों के अतिरिक्त सब उपाध्याय भी वायसराय से परिचित होने के लिए उपस्थित थे। परिचय के समय एक बहुत ही मजेदार घटना हुई, जो

यदि विनोद में परिणत न हो जाती तो बहुत ही भद्दी रहती। जिस समय आचार्य रामदेव जी वायसराय को उपाध्यायों से परिचित करा रहे थे उस समय हमारे वयोवृद्ध उपाध्याय पं० सूर्यदेव जी जो पिछली पंक्ति में सब से पीछे खड़े थे, कमरे के कोने में संकुचित हो कर सभा से निकलने की चेष्टा कर रहे थे। पं० सूर्यदेव जी पुराने कर्मकाण्डी थे। हम लोग ताड़ गये कि वह म्लेच्छ जाति के स्पर्श से बचने की चेष्टा कर रहे हैं। परन्तु आचार्य रामदेव जी तो धुन के पक्के थे, वह ऐसी छोटी बातों पर कहां दृष्टि देते थे? वह प्रयत्न-पूर्वक रास्ता बनाते हुए कमरे के कोने तक वायसराय को ले गये और झट से पंडित सूर्यदेव का परिचय करा दिया। शिष्टाचार के अनुसार वायसराय सभी से हाथ मिलाते जा रहे थे। उन्होंने पंडित सूर्यदेव जी की तरफ भी हाथ बढ़ा दिया। पंडित सूर्यदेव जी दीवार के साथ खड़े थे, अतः और पीछे न हट सके, परन्तु म्लेच्छ के स्पर्श से बचने के लिए अपने हाथ को यथासम्भव पीछे ले गए। क्षण भर के लिए स्थिति बहुत गम्भीर हो गई। वायसराय का हाथ आगे बढ़

है और पंडित जी हाथ को पीछे दुबकाए जा रहे हैं, इस विषम परिस्थिति को लार्ड चेम्सफोर्ड ने ताड़ लिया और अङ्गरेज जाति की स्वभावसिद्ध शान्तचित्तता से उसे हल भी कर दिया। आपने एक दम आगे बढ़ कर बड़ी फुर्ती से अपने

दोनों हाथों में पंडित जी का हाथ पकड़ लिया और खूब जोर से हिला कर कहा, 'वैरी ग्लैड टू सी यू' (मैं आप से मिल कर बहुत खुश हुआ)। पंडित जी को काटो तो खून नहीं, इस भ्रष्टाचार के बलात्कार को चुपचाप सहना पड़ा। वायसराय के उस कमरे से निकलते ही पंडित सूर्यदेव जी शिव-शिव कहते हुए आनन्दाश्रम की ओर भाग गए। वहाँ जा कर कपड़ों सहित गंगा में कई डुबकियाँ लगाईं। अपने शिष्य को भेज कर गोशाला से गोबर मंगाया और म्लेच्छ सम्पर्क से भ्रष्ट हुए हाथों को दसों वार गोबर से पवित्र किया।

इस से पाठक यह न समझें कि पंडित सूर्यदेव जी सर्वथा पुराने ढर्रे के पंडित थे। उन में कई नए ढंग की बातें भी थीं। आर्ष-साहित्य के प्रौढ़ पंडित होने के साथ-साथ गतका-फरी के भी उस्ताद थे। काशी के पंडितों की प्रशंसा करते हुए यह भी स्वीकार किया करते थे कि स्वामी दयानन्द जी दिव्यदर्शी विद्वान् थे। उन की सब से बड़ी विशेषता यह थी कि वे बहुत ही भोले थे।

एक ऐसी संस्था में, जिस की राजद्रोहियों में गिनती थी, वायसराय का आना और उस संस्था की प्रशंसा करना एक बहुत बड़ी राजनीतिक छलांग थी, जिस ने लोगों को आश्चर्य में डाल दिया। आर्य-समाज के भक्तों और गुरुकुल प्रेमियों का आश्चर्य सन्तोष-मिश्रित था। उन्होंने इस घटना का

स्वागत किया, क्योंकि इस से एक विकट गुत्थी सुलझ गई और संस्था पर जो काले बादल छा रहे थे, वे कम-से-कम उस समय उड़ गए।

गरम राजनैतिक श्रेणी के सज्जनों ने वायसराय के गुरुकुलागमन को बहुत सन्देह की दृष्टि से देखा। उन्हें इस घटना से गुरुकुल के स्वतन्त्र और राष्ट्रीय रूप को खतरा प्रतीत होता था। उन सज्जनों में लाला हरदयाल एम. ए. की टिप्पणी विशेष रूप से चुभने वाली थी। आपने एक पत्र में इस आशय का लेख लिखा था, कि जब हम ने दिल्ली के कबूतर (श्री. सी. एफ. एन्डरूज) के बार-बार गुरुकुल जाने आने का समाचार पढ़ा था, तभी हम समझ गए थे कि गुरुकुल पर कोई मुसीबत आने वाली है। हमारा भय सच्चा सिद्ध हुआ। भारी अभिशाप के समान वायसराय गुरुकुल पहुँच गया।

अपनी-अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार लोगों ने जो सम्मतियाँ बनाईं उन्हें छोड़ भी दें, तो एक विचारणीय प्रश्न अवश्य रह जाता है। प्रश्न यह है कि दोनों ओर से यह परिवर्तन इतनी शीघ्रता से कैसे हो गया? कहाँ तो गुरुकुल वालों का यह रुख कि किसी सरकारी अफसर से बात नहीं करते थे और कहाँ यह हालत कि अफसर पर अफसर चले आ रहे और प्रसन्न हो कर चले जाते हैं। उन की आवभगत

होती है। उन्हें आलू के पकौड़ों के साथ तुलसी की चाय पिलाई जाती है और संस्कृत में अभिनन्दन-पत्र पेश किए जाते हैं। इस क्रांतिकारी मानसिक परिवर्तन का क्या कारण था ?

दूसरी ओर सरकार के व्यवहार में भी कुछ कम परिवर्तन नहीं हुआ। कहां तो तलाशी की तैयारी हो रही थी और कहाँ सब से बड़ा राज्य का अधिकारी निःशंक हो कर गुरुकुल में घूम रहा था और प्रायः सभी चीजों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करता जाता था। ऐसा दृष्टि में आता था कि एक अधिकारी का आगमन उस से बड़े अधिकारी के आगमन की भूमिका मात्र होता था। एक मसखरे के कथनानुसार बस अब इतनी ही कसर रह गई थी कि महात्मा मुन्शीराम इङ्गलैण्ड के किंग जार्ज को गुरुकुल आने का निमन्त्रण भेजें। निमन्त्रण स्वीकार तो हो ही जायेगा।

पहले मैं गुरुकुल के मानसिक परिवर्तन के सम्बन्ध में कुछ शब्द कहूंगा। पिता जी की तबियत में अपरिवर्तनशीलता का अत्यन्त अभाव था। मित्र और शत्रु उन के स्वभाव को भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते थे। मित्र उसे महात्मा जी का महात्मापन कहते थे और शत्रु उसे स्वभाव की अस्थिरता का नाम देते थे। वास्तविक बात यह थी कि पिता जी को मानसिक परिवर्तन करने में प्रायः क्षण भर की भी देर नहीं लगती थी। मुझे अनेक परिस्थितियों में अन्त तक उन के

पास रहने का सौभाग्य प्राप्त होता रहा। मैं और मेरे जैसे और साथी आश्चर्य चकित हो कर देखते थे कि किसी नई घटना, नई चिट्ठी, अथवा नए वक्तव्य का उन के दिल और दिमाग पर ऐसा तीव्र असर होता था कि उन के अनुयायी वहीं खड़े रह जाते थे, जहाँ पहले खड़े थे और पाँच ही मिनट में पिता जी केवल खाई नहीं प्रत्युत विचारों का बहुत बड़ा समुद्र पार कर के सैंकड़ों मील आगे जा खड़े होते थे। हम लोग देखते थे कि यह क्या हुआ ? समझने में देर लगती थी, परन्तु अन्त में बात समझ में आ जाती थी, तो कोई किश्ती में बैठ कर और कोई स्लीपरों के बेड़े द्वारा सरकते-सरकते उन तक पहुँचने की चेष्टा करते थे।

यह बात आकस्मिक नहीं थी। इस का मूल कारण मनोवैज्ञानिक था। कुछ लोग मस्तिष्क से सोचते और निश्चय करते हैं। उन्हें बुद्धिवादी कहा जाता है। कुछ लोग हृदय से अनुभव करते और अनुभूति के आधार पर ही इतिकर्तव्यता का निश्चय करते हैं, वे भावुकताप्रधान समझे जाते हैं। पिता जी उन व्यक्तियों में से थे जो निश्चय का अवसर आने से पूर्व और निश्चय हो जाने के पश्चात् मस्तिष्क का पूरा प्रयोग करते हैं। परन्तु निश्चय मस्तिष्क से नहीं करते, अपितु हृदय से करते हैं, जिस का दूसरा नाम—अन्तरात्मा—है। ऐसे महानुभाव विवेचना के लिए तर्क का प्रयोग करते हैं परन्तु निश्चय

के लिए केवल श्रद्धा को पथप्रदर्शक मानते हैं। साधारण व्यक्ति ऐसे लोगों को पूरी तरह समझने में अपने आपको सर्वथा असमर्थ पाते है। साधारण व्यक्ति सोचता है कि इस भलेमानस को चिरकाल की विचार-परम्परा क अनुसार ही तो किसी निश्चय पर पहुंचना चाहिए था। परन्तु उसे क्या मालूम कि वह भला मानस एकदम श्रद्धा के विमान पर आरूढ़ हो कर कहीं का कहीं पहुंच गया। पिता जी ने संन्यास लेने के समय यही घोषणा की थी कि "मैंने अपने जीवन के सब निर्णय केवल श्रद्धा के आधार पर किये है। इस कारण मैं अपना नाम श्रद्धानन्द रखता हूं"। पिता जी जिसे "श्रद्धा" नाम से पुकारते थे, महात्मा गाँधी उसे—आन्तरिक शब्द—कहते हैं।

यह थोड़ी सी मनोवैज्ञानिक व्याख्या मुझे यह समझाने के लिए करनी पड़ी, कि पिता जी के विचार इतना शीघ्र परिवर्तित से क्यों प्रतीत होने लगते थे। गुरुकुल एक स्वतन्त्र संस्था थी, अंग्रेजी सरकार से उसे कुछ लेना देना नहीं था। खुशामद करना स्वभाव के सर्वथा प्रतिकूल बात थी। इन कारणों से वर्षों तक गुरुकुल के सम्बन्ध में पिता जी ने सरकार के प्रति सर्वथा उदासीनता का भाव रखा। न गुरुकुल में सरकार की खुशामद ही सिखाई जाती थी और न राजद्रोह का प्रचार होता था। विशाल हाथी की तरह

गुरुकुल अपने निर्दिष्ट मार्ग पर चला जाता था। न दाएं देखता था, न बाएँ। इसी बीच में देश का वातावरण राजनीतिक दृष्टि से विक्षुब्ध हो गया। संसार भर के विदेशी शासनों की यह विशेषता होती है, कि उनका मन चोर की तरह सन्देहशील हो जाता है। उन दिनों भारत सरकार भी बेतरह सन्देहशील हो गई थी। पेड़ से पत्ता गिरता था तो सरकार को बम की आहट मालूम होती थी। ऐसे समय में गुरुकुल का उपेक्षाभाव सरकार को गुप्त राजद्रोह के रूप में दिखाई दिया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

पिता जी ने इस परिस्थिति को भांप लिया, उन्हें प्रतीत हो गया कि मानसिक निर्बलता और झूठी रिपोर्टों के आधार पर सरकार के अधिकारी व्यर्थ में ही गुरुकुल पर सन्देह करने लगे हैं। इससे गुरुकुल को क्षति पहुँच सकती है। गुरुकुल की रक्षा को वह अपना धर्म समझते थे। क्वेटे से लौट कर इतिकर्तव्यता का निश्चय करने में शायद कुछ क्षण ही लगे होंगे। उन्होंने निश्चय कर लिया कि गुरुकुल की रक्षा के लिए अधिकारियों के मन में से निराधार सन्देह की भावना को निकाल फेंकना अत्यन्त आवश्यक है। अधूरापन पिता जी की तबीयत में नहीं था। कोई कार्य वे आधे दिल से नहीं करते थे, जब उन्होंने निश्चय कर लिया कि अधिकारियों के मन में से गुरुकुल के प्रति सन्देह को दूर करना है तो फिर

वह बिजनौर के कलेक्टर तक रुकने वाले नहीं थे। कलेक्टर से कमिश्नर, कमिश्नर से गर्वनर और गवर्नर से वायसराय तक पहुंचने में अधिक देर नहीं लगी। परिणाम यह हुआ कि जिस गुरुकुल पर ताले लगाने के लिए वारंटों पर हस्ताक्षर हो चुके थे उसे देखने आकर सब अधिकारियों ने उसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की।

पिता जी ने जिस भावना से सरकारी अधिकारियों को गुरुकुल में निमन्त्रित किया उसे जो लोग नहीं समझ सके उन्होंने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार सम्मति प्रकट की।

इसी समस्या का दूसरा पहलू भी है। यह प्रश्न भी पूछा जा सकता है, कि सरकार के रुख में इतना शीघ्र परिवर्तन कैसे हो गया ? ऐसी कौन सी नई बात हुई, जिससे अधिकारियों को विश्वास दिला दिया कि गुरुकुल राजद्रोही सँस्था नहीं है।

सारे घटना चक्र को बहुत पास से देखने के अनन्तर मैं जिस परिणाम पर पहुंचा हूँ, वह निम्नलिखित है। वह अनुमान पर आश्रित है, इस कारण सम्भव है ठीक न हो, तो भी मैं उसे इस आशा से अंकित करता हूं कि वह भी एक सम्भवित समाधान होने से विचारणीय है।

जब पिता जी अफसरों से मिले, तब अफसरों पर उनके व्यक्तित्व का बहुत अनुकुल असर हुआ। उनकी विशाल मूर्ति,

खुली तबियत और आदर्श प्रेम के साथ-साथ विरोध या कड़वेपन के सर्वथा अभाव को अनुभव कर के अधिकारियों ने यह मानने में देर न लगाई कि गुरुकुल पर और उस के मुख्याधिष्ठाता पर सन्देह करना व्यर्थ है। इस से बिगड़ी हुई परिस्थिति शीघ्र ही शान्त हो गई, परन्तु सरकार के ऊंचे अधिकारियों ने यहीं तक सन्तोष नही किया। मेरी कल्पना है कि उन लोगों ने और आगे बढ़ कर गुरकुल को अपने असर में लेने का संकल्प किया। उन्होंने सोचा होगा कि जो व्यक्ति हम से इतनी अच्छी तरह मिलता है और जिसके हृदय में अंग्रेज जाति के प्रति अणुमात्र भी कटुता नहीं है, उसे यह समझा लेना क्या कठिन है कि सरकार का सहयोग प्राप्त करने से गुरुकुल को लाभ ही होगा। सम्भव हैं अत्यन्त सद्भावना से प्रेरित हो कर ही अधिकारियों ने ऐसा विचार किया हो। परन्तु यह असंदिग्ध है, कि एक समय ऐसा अवश्य आ गया था जब सरकार गुरुकुल को बहुत सी आर्थिक सहायता देने के अतिरिक्त गुरुकुल विश्वविद्यालय को 'चार्टर प्राप्त यूनिर्वासिटी' मानने को तैयार हो गई थी। इस सम्बन्ध में काफी स्पष्टता से एक बहुत ऊंचे अधिकारी ने पिता जी को इशारा भी दिया था। जिस तीव्र उत्सुकता से सरकार ने गुरुकुल की ओर को हाथ बढ़ाया उसका एक मुख्य कारण सरकार की यह भावना अवश्य प्रतीत होती

थी कि गुरुकुल का और सरकार का स्थिर गठजोड़ा हो जाय।

सरकार को इसमें सफलता नहीं हुई। उसका कारण यह था कि जिसे उन्होंने केवल बर्फ को तह समझा था, उसके नीचे कठोर चट्टान थी। पिता जी की सामाजिकता और सरलता के पीछे दृढ़ विश्वास की जो दीवार थी उसे ऊंचे अधिकारी तब तक नहीं समझ सके जब तक पिता जी ने सरकार द्वारा पेश किये हुए दोनों उपहारों को ग्रहण करने से कोरा इन्कार नहीं कर दिया। बुद्धि और श्रद्धा दोनों के सहारे पर चलने वाले व्यक्तियों के स्वभाव की यह विशेषता होती है, कि वह गौण बातों में समझौते के लिए जिस शीघ्रता से तैयार हो जाते हैं मुख्य सिद्धान्त के विषय में उस से भी अधिक शीघ्रता से समझौता करने से सर्वथा इन्कार कर देते हैं। जो लोग गम्भीर दृष्टि से इसके मनोवैज्ञानिक कारणों पर विचार नहीं करते वह प्रायः उन व्यक्तियों को "अस्थिर, परिवर्तनशील, दुर्बोध" आदि शब्दों से विशेषित करने लगते हैं। वस्तुतः बात यह होती है कि, सिद्धान्तवादी मनुष्य गौण और मुख्य में भेद करना जानते हैं। गौण में समझौता करने को सदा उद्यत रहते हैं किन्तु मुख्य सिद्धान्त को आँच नहीं आने देते। पिता जी ने सरकार के हाथ में हाथ तब तक रहने दिया जब तक उन्होंने यह अनुभव नहीं किया कि गुरुकुल

की अन्तरात्मा पर आघात नहीं पहुँच सकता है। ज्यों ही उन्होंने ऐसी सम्भावना को अनुभव किया त्यों ही अपना हाथ खींच लिया, उपहार लेने से इन्कार कर दिया और इस आशंका से कि निरन्तर सम्पर्क से कभी परिस्थिति अधिक न उलझ जाय, निमन्त्रणों का क्रम भी वहीं समाप्त कर दिया।

लार्ड चेम्सफोर्ड के गुरुकुलागमन के साथ अधिकारियों के आगमनों का ताँता समाप्त हो गया। गुरुकुल के अधिकारी सफल हो गए, क्योंकि गुरुकुल पर जो सन्देह के बादल छा रहे थे, वह छिन्न-भिन्न हो गये। सरकारी अधिकारियों को कहाँ तक सफलता मिली यह कहना कठिन है, क्योंकि सरकार ने अपना लक्ष्य कहाँ तक रक्खा था इस का केवल अनुमान लगाया जा सकता है, निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता।

—

उन्नीसवां परिच्छेद

दुखी दिल की पुरदर्द दास्ताँ

पुराने आर्यसमाजी तो शीर्षक में दिये गये नाम की पुस्तक से परिचित होंगे, किन्तु सम्भवतः नई सन्तति इसे नहीं समझ सकेगी, इस कारण इस का थोड़ा सा परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है। पिता जी ने यह पुस्तक उर्दू में

लिखी थी। इसमें उन्होंने उन सब आक्षेपों का युक्ति और प्रमाणों से उत्तर दिया था, जो उन के तब तक के सार्वजनिक जीवन पर किये गये थे। यह तो हुआ पुस्तक का परिचय। अब आप उस के सम्बन्ध में मेरे तत्कालीन संस्मरणों को सुनिये।

जहाँ तक मुझे स्मरण है, हम लोग उन दिनों गुरुकुल की सातवीं श्रेणी में पढ़ते थे। यहाँ एक बात पाठकों के सम्मुख स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। पाठकों ने देखा होगा कि इन संस्मरणों में मैंने कहीं भी तारीख नहीं दी, इस का यह कारण नहीं कि प्रायः सभी दी हुई घटनाओं की तारीखें दी नहीं जा सकती थीं। अवश्य दी जा सकती थीं। उस के दो कारण हैं। एक तो यह कि सद्धर्म-प्रचारक की पुरानी फाइल में पिता जी के सार्वजनिक जीवन के सम्बन्ध में सभी मुख्य घटनाएँ, जिन का कुछ भी सार्वजनिक महत्व हो, प्रकाशित होती रही हैं। इतना ही नहीं, पिता जी ने अपने निजू जीवन को इतना अधिक सार्वजनिक बना दिया था कि अपने व्यक्तित्व अथवा परिवार से सम्बन्ध रखने वाली बहुत सी चीजें भी सद्धर्म-प्रचारक के स्तम्भों में किसी न किसी रूप में आ चुकी हैं। पिता जी की अपनी बहुत सी डायरियाँ भी सुरक्षित हैं। इस के अतिरिक्त स्वयं मैं भी नियमित डायरी रखने का अभ्यासी हूँ। कुछ पाठकों को यह जान

कर आश्चर्य होगा कि जब मैं चौथी श्रेणी में पढ़ता था, तब से अब तक के प्रायः सभी वर्षों की डायरी मेरे पास विद्यमान हैं। प्रतीत होता है कि अन्य अनेक न्यूनताओं के होते हुए भी एक यह विशेषता मैंने पैतृक संस्कारों से प्राप्त की है। डायरी कागज और फाइल रखने का मुझे स्वभावसिद्ध मर्ज है। यदि मैं चाहता तो उपर्युक्त सब साधनों से सहायता लेकर इन संस्मरणों में दी गई कम से कम ९० प्रतिशत घटनाओं की तारीखें दे सकता था, परन्तु फिर वे संस्मरण न रहते। वह तो कोरा इतिहास हो जाता, जिसे लिखने का मेरा मंशा नहीं था। मैं तो इन लेखों में अपनी स्मृति-पुस्तक से पन्ने फाड़ कर पाठकों के सम्मुख रख रहा हूं। चित्र में दृश्य तो आता है, पर तारीख नहीं आती। इसी व्यवस्था के अनुसार मैंने ऊपर लिखा है कि जहाँ तक मुझे स्मरण है कि हम लोग उन दिनों गुरुकुल की सातवीं श्रेणी में पढ़ते थे।

उन दिनों पिता जी को आधे सिर के दर्द की शिकायत बहुत बढ़ गई थी, नजले से भी परेशान थे। दफ्तर में काम करने वाले लेखकों तथा छोटी श्रेणी के अधिष्ठाताओं से कभी-कभी हमें ऐसे समाचार भी मिलते रहते थे, जिनके हम अधिकारी नहीं समझे जाते थे। ऐसे समाचारों में से एक यह भी था कि प्रधान जी पर अखबारों में और आर्य-प्रतिनिधि-सभा में जो आक्षेप किये जा रहे हैं, उनके कारण प्रधान जी बहुत

दुःखी हैं और इसी लिए उनकी तबीयत बहुत खराब रहती है। एक बार हम ने अद्भुत बात अनुभव की। पिता जी पञ्जाब आर्य-प्रतिनिधि-सभा के अधिवेशन में भाग लेने के लिये लाहौर गये। जब वे वहां से लौट कर घर आये, तब हमने आश्चर्य से देखा, कि उन ६—७ दिनों में उनके चेहरे में कोई बड़ा परिवर्तन आ गया है। जब ध्यान से देखा तो समझ में आया, कि सप्ताह भर में ही उन के सिर और दाढ़ी—मूंछ के आधे बाल सफेद हो गए हैं। जनश्रुति ने उस समय हमें बतलाया कि सभा में प्रधान जी पर बहुत आक्षेप किए गए, जिनके उन्हों ने बड़ी सफलता से उत्तर दिये, परन्तु उस रात भर की बैठक का प्रधान जी के मन और शरीर पर इतना असर हुआ कि उनके बाल सफेद हो गये। यह समाचार हमने लाहौर से आये हुए सज्जनों से पूछ-पूछ कर संगृहीत किये थे, क्योंकि पिता जी तो कभी इन विषयों को हम लोगों से चर्चा करते ही नहीं थे।

ऐसे समाचारों ने हमारे हृदयों में तीव्र जिज्ञासा पैदा कर दी। हम दोनों भाई उर्दू पढ़ना जानते थे। गुरुकुल में आने से पहिले एक मौलवी साहब उर्दू और फारसी पढ़ाने के लिए घर पर आया करते थे। मुझे याद है कि फारसी में हम 'सोहराब रुस्तम' की कहानी पढ़ा करते थे। जब गुजरांवाला गुरुकुल जाने के लिए हमारे बिस्तर बाँधे गये, हम उर्दू

अच्छी तरह पढ़ने लगे थे । हमें मालूम हुआ कि एक 'हितकारी' नाम का अखबार आता है, जिस में पिता जी पर कटाक्षपूर्ण लेख छपे रहते हैं। हम ने उसे किसी तरह तलाश करने और पढ़ने का प्रयत्न जारी किया, जिस में हमें कार्यालय के एक लेखक की सहायता से सफलता मिल गई । वह हमें कुछ घण्टों के लिए हितकारी का पर्चा ला कर दे देता था । उसे ले कर हम दोनों भाई गंगा के किनारे किसी घनी झाड़ी में जा बैठते थे और उस का पारायण करते थे । जिन आर्य महानुभावों के 'हितकारी' में लेख होते थे, वे उस समय पंजाब के आर्य-जगत् के प्रमुख और मानी व्यक्ति थे । हितकारी के सम्पादक भी एक प्रसिद्ध वक्ता और प्रचारक थे । इन संस्मरणों में उन में से किसी का नाम भी नहीं लिखूंगा । पंजाब के आर्य-समाजों के इतिहास का वह एक काला अध्याय था, जिस पर समय का पर्दा पड़ चुका है। उसे न उठा कर, केवल उतनी ही स्मृतियां को अंकित करूँगा, जो पिता जी के जीवन से सम्बन्ध रखती हैं।

'हितकारी' को निरन्तर देखने से हम दोनों भाई पंजाब की आर्यसमाजों के आन्तरिक कलह से काफी भली प्रकार परिचित हो गए। कुछ समय पीछे लाहौर से "प्रकाश" नाम का पत्र निकलने लगा। उसमें "हितकारी" का उत्तर दिया जाता था। प्रति सप्ताह उसके प्राप्त करने का भी हमने

प्रबन्ध कर लिया था। दो-तीन वार गुरुकुल में आर्य-प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा के अधिवेशन हुए, उनकी जो टूटी-फूटी रिपोर्टें हम लोगों को मिलती रहीं उनसे गुरुकुल में विरोधी लोगों के प्रति नाराज़गी का भाव उत्पन्न हो गया था, इस कारण जब ऐसे महानुभाव गुरुकुल में आते थे, तब जो ब्रह्मचारी आर्यसमाज के आन्तरिक झगड़ों से थोड़ा बहुत परिचित हो चुके थे, वे उन्हें कड़ी आलोचना की दृष्टि से देखा करते थे। वह दृष्टि वस्तुतः उन महानुभावों की मानसिक प्रवृत्तियों की प्रतिक्रियामात्र थी।

उस झगड़े में जो आक्षेप किये जाते थे, वे विचित्र ढङ्ग के थे। जिन लोगों से वह सम्बन्ध रखते थे उनके लिए यह निश्चय करना कठिन हो जाता था कि उन आक्षेपों की निराधारता पर हँसें या नीचता पर क्रोध करें। आक्षेपों के कुछ नमूने लीजिये। पिता जी के बारे में लिखा था, कि उन्होंने त्याग ही क्या किया है, जालन्धर में रहते थे, तो वकालत नहीं चलती थी, अब गुरुकुल में आकर महात्मा बन गए हैं, तो विलायती ढंग की सजी हुई बैठक में बैठते हैं और रेशमी कपड़े पहनते हैं। जालन्धर में वकालत के दिनों में पिता जी का रहन-सहन कैसा था, यह हम लोग जानते थे। हम लोगों की कोठी कितनी बड़ी थी इसे वे लोग जानते हैं

जिन्होंने उसे कभी देखा है। उस में रहने के लिए पूरी हवेली थी। बैठक और दफ्तर का हिस्सा अलग था। एक सुन्दर वाटिका थी। सारा सद्धर्म-प्रचारक प्रेस था और इतना बड़ा अस्तबल था जिस में दो घोड़ा-गाड़ियां और दो-तीन दूध देने वाले पशु रहते थे। प्रेस को अलग छोड़ दें, तो भी घर में कम से कम एक दर्जन नौकर थे। जिन दिनों समालोचक लोग पिता जी पर और गुरुकुल पर आक्षेपों की भरमार कर रहे थे, उन दिनों सारा गुरुकुल कच्ची दीवार के टिनशैडों में समाया हुआ था, जिन में से वह टिनशैड जिस में पिता जी के बैठने व सोने की जगह थी, ऊँचाई में औरों से कम होने के कारण बहुत गर्म था। उस में जो फर्नीचर पड़ा था, उस का एक बड़ा भाग अब तक दिल्ली में मेरे पास सुरक्षित है। तीन-चार लकड़ी की कुर्सियां थीं, जिन का आसन भी लकड़ी का ही था। एक बड़ी दराजों वाली मेज़ थी जिस का पूर्ववृत्त यह है कि वह तब भी पिताजी के दफ्तर में रहती थी, जब वे वकालत करते थे। गुरुकुल के उस टिनशैड में और गंगा किनारे वाले बंगले में वही मेज शोभायमान रही और बाद में 'अर्जुन' कार्यालय के ऊपर जिस कमरे में मैं लिखने का कार्य करता था, वहां भी वही मेज विद्यमान थी। इस बड़ी मेज़ के अतिरिक्त एक छोटी मेज़ और एक कुर्सी भी वकालत के समय की ही, गुरुकुल के उस कमरे में रहती थी, जो पिता जी के बैठने का कमरा था। ये

होता था, कि पिता जी महात्मा नहीं हैं, इस कारण उन्हें महात्मा मुन्शीराम के नाम से न पुकारा जाय। इस बात का सिद्ध करने के लिए एक सैशन जज साहब ने साप्ताहिक 'हितकारी' में कई मास तक एक लेखमाला लिखी। 'साप्ताहिक प्रकाश' में इन आक्षेपों के थोड़े बहुत उत्तर दिए जाते थे, परन्तु विरोधियों की ओर से निरन्तर यही ललकार सुनायी जाती थी यदि हमारे किए हुए आक्षेप असत्य हैं, तो महात्मा मुन्शीराम उन का जबाव क्यों नहीं देते। आक्षेप सभी प्रकार के थे। रुपये का गबन, हिसाब की गलती, कुर्बानी का ढोंग और न जाने इसी तरह के कितने विषैले अभियोग थे, जिन्हें सिद्ध करने के लिए विरोधी लोग वर्षों तक साप्ताहिक गोलाबारी करते रहे परन्तु पिता जी ने उन का उत्तर देना आवश्यक नहीं समझा।

अन्त में ऐसा समय आ गया, जब आक्षेपों की उपेक्षा करनी कठिन हो गई। विरोधियों की निरन्तर ललकार से भक्तों के दिल भी दहलने लगे और वह पिता जी को प्रेरित करने लगे कि विरोधियों को मुंहतोड़ जवाब दिया जाए। इधर विरोधियों की इस भारी बाण-वर्षा का पिता जी के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा असर पड़ रहा था। अन्दर ही अन्दर घुलने वाले मानसिक विक्षोभ के कारण उन की वही अवस्था हो रही थी, जिस का कालिदास ने निम्नलिखित पदों में वर्णन

किया है—

राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः ।

अपनी इच्छानुसार, अपने ऊपर डाले हुए प्रतिबन्ध के कारण अन्दर भरा हुआ क्षोभ प्रतिदिन असह्य होता जा रहा था, जिस का परिणाम यह हुआ कि एक दिन पिता जी ने निश्चय कर लिया कि संसार के सामने सत्य का प्रकाश किया जाय । इस संकल्प को ले कर पिता जी ने गंगा किनारे वाले बंगले से अपना बोरिया-बँधना उठा कर पक्की धर्मशाला में १५ दिन के लिए डेरा जमाया और उन दिनों में लगभग ६०० पृष्ठों की वह किताब लिखी, जिस का नाम इस अध्याय के आरम्भ में दिया गया है ।

—

बीसवाँ परिच्छेद

समाधान

'दुखी दिल की पुरदर्द दास्ताँ' में पिता जी ने न केवल उन सब आक्षेपों का विस्तृत उत्तर दिया था, जो विरोधियों की ओर से उनके सार्वजनिक जीवन पर किए जाते थे, आर्य-समाज के क्षेत्र में उन के जो-जो विरोधी हुए उनके विरोध के कारणों पर भी पूरा प्रकाश डाला था । उनकी दास्ताँ सचमुच दिल को बहुत दुखी करने वाली है । सारी

पुस्तक को पढ़ कर मन पर यह असर होता है कि पंजाब के आर्यसमाजों के कार्य-क्षेत्र में ऊँचे पदों पर काम करने वाले प्रायः सभी प्रमुख व्यक्ति एक-एक करके पिता जी के विरोधी बन कर समालोचकों में शामिल होते गए। इस दशा को देख कर एक उदासीन व्यक्ति के मन में भी यह प्रश्न पैदा होने लगता है कि इसमें क्या सब दोष औरों का ही था ? पाठक सोचने लगता है, कि जिस व्यक्ति के इतने विरोधी हो गए कि जो आज साथी बना कल वही समालोचक बन गया, क्या इसमें सब दोष अन्यों का ही था ? उसका नहीं था ?

इस पुस्तक के पढ़ने से एक और प्रश्न भी पाठक के मन में उत्पन्न हो सकता है। वह यह कि इतने बड़े सार्वजनिक कार्यकर्ता ने अपने विरोधियों की आलोचनाओं की इतनी परवाह क्यों की, कि उनका उत्तर इतने दुखी दिल से दिया और हरेक छोटे से छोटे आक्षेप का इतना विस्तृत उत्तर दिया। वह उनकी उपेक्षा कर सकते थे, कम से कम सर्वथा शान्त भाव से उत्तर दे सकते थे।

ये दोनों प्रश्न पिता जी के जीवन-काल में भी पूछे जाते थे। प्रायः ज्योतिषी लोग समृद्ध व्यक्तियों का हाथ देख कर कह दिया करते हैं, कि तुम्हारी हस्तरेखा से मालूम होता है, कि तुम जिसे दूध पिलाओगे वही तुम्हें डसने को आएगा। सब लोगों के सम्बन्ध में यह बात ठीक हो या न हो, पर पिता

जी के सम्बन्ध में तो लगभग अक्षरशः ठीक सिद्ध होती रही। सार्वजनिक जीवन में उनके सब साथी कुछ समय के पश्चात् न केवल पिछड़ जाते थे, बल्कि उन के कठोर विरोधी बन जाते थे। मैंने अत्यन्त समीप से जो कुछ देखा और अनुभव किया, उसके आधार पर इस प्रश्न का उत्तर देने का साहस करता हूँ। जैसे मैं पहले लिख आया हूँ, पिता जी अपने निजू जीवन में और सार्वजनिक जीवन में इति-कर्तव्यता का निश्चय करते हुए युक्तियों या परिस्थितियों पर कभी विचार नहीं करते थे। स्नातक बनने के पश्चात् अनेक बार मैं उनके परामर्श में—और वह परामर्श भी लगभग प्रत्यक्षचिन्तन ही होता था—शामिल होता रहा। किसी बड़े कदम के उठाने के विषय में विचार करते हुए मैंने कभी उन्हें यह सोचते नहीं पाया, कि इस कार्य के लिए धन कहाँ से आएगा? पुराने साथी नाराज़ तो नहीं हो जायेंगे? नए साथी कहाँ से आयेंगे? और जो बाधाएँ आयेंगी उनका निवारण कैसे होगा? उनका मन कुछ ऐसे ढंग का बना हुआ था कि जिसे अक्ल-मन्द लोग सांसारिक दूरदर्शिता या दुनियादारी के नाम से पुकारते हैं, वह कभी उनके पास नहीं फटकती थी। वह जब कोई बड़ा कदम उठाते थे, तब अन्तरंग लोगों में भी यही घोषणा किया करते थे, 'बस मैंने निश्चय कर लिया'। यदि कोई यह पूछता कि कल शाम तक तो अभी विचार ही हो रहा था, तो वह उत्तर देते

"वह मेरी निर्बलता थी आज प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में मेरी अन्तरात्मा ने निश्चित रूप से कह दिया कि मुझे यह काम करना चाहिये", फिर कोई सलाहकार यह पूछने का साहस कर बैठता था, कि परन्तु यह कार्य होगा कैसे ? इस प्रश्न का उत्तर पिता जी का निश्चित ही था—उत्तर था—"अब तक मेरे सब कार्य सहस्रबाहु के भरोसे पर हुए हैं, यह कार्य भी वैसे ही होगा।"

उपर्युक्त घोषणा के पश्चात् और कभी-कभी उससे पहिले ही प्रातःकाल के तीन चार घंटों में नया कदम बहुत दूर तक उठ चुका होता था। दृष्टान्त के लिए कांग्रेस की कार्य-समिति या हिन्दूमहासभा अथवा शुद्धिसभा से त्यागपत्र देने जैसे महान् प्रश्न को ही लीजिए। जिस दिन प्रातःकाल ब्राह्म-मुहूर्त में वह अन्दर के शब्द को सुनकर यह निश्चय कर लेते थे, कि अब मुझे त्यागपत्र दे देना है, उस दिन प्रातःकाल सूर्य निकलने से पहिले उनका लिखा हुआ विस्तृत त्याग-पत्र, उसकी आफिस कापी, उसके स्पष्टीकरण के लिए एक लम्बा वक्तव्य रूपी तार, यह सब कुछ लिखा हुआ मेज पर पड़ा होता था। सेवक के आते ही त्यागपत्र की चिट्ठी बन्द होकर डाक के डिब्बे में पड़ जाती थी। तार, तारघर पहुँच जाता था, और उस सभा के सम्बन्ध में जितनी फाइल होती थी, उसे पूरा कर के फाइलों की अलमारी में बन्द कर देने के लिए

पंडित धर्मपाल जी विद्यालंकार के सुपुर्द हो जाती थी। पंडित धर्मपाल जी विद्यालंकार वर्षों तक स्वामी जी के निजू मन्त्री का कार्य करते रहे। जब हम लोग स्वामी जी के पास पहुंचते थे, तब हमें मालूम होता था कि जो मामला अटका हुआ था, उसकी अटक न केवल दूर हो गई है, प्रत्युत वह कोसों आगे पहुँच चुका है।

इस प्रकृति को लेकर पिताजी ने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया था। इन मनोवैज्ञानिक विशेषताओं के साथ कुछ भगवान् की दी हुई शारीरिक विशेषताएँ भी थी। हमारे दादा जी सिपाही थे। उनका पूरा ठाठ सिपाहियाना था। वह पिता जी से भी दो अंगुल ऊंचे और फैलाव में अधिक विशालकाय थे। पिता जी ने शारीरिक सम्पत्ति उनसे विरसे में पाई थी। जिस समय पीला दुपट्टा और संन्यास ले लेने के पश्चात् भगवाँ कपड़ा लेकर और हाथ में लम्बा दण्ड पकड़ कर वह भीड़ में चलते थे, उस समय उनके कन्धे अन्य लोगों के सिरों से ऊँचे दिखाई देते थे और सिर कन्धों से भी ऊँचा। यदि शारीरिक सम्पत्ति किसी को जन्म सिद्ध नेता बना सकती थी तो वह पिता जी थे। उसके साथ ही संकटकाल में जनता यह चाहती है कि उसको एक दम रास्ता दिखाया जाय। उसका खून इतना उबल चुका होता है कि न परामर्श की गुंजाइश होती है और न शाब्दिक आश्वासन की। उस समय पिताजी

वस्तुतः क्षण भर में इति-कर्तव्यता का निश्चय कर लेते थे और निश्चय करने के साथ ही लाठी उठाकर बड़े से बड़े संकट से जूझने के लिए चल पड़ते थे। उनकी इसी विशेषता से प्रभावित होकर कई विषयों पर गहरा मतभेद रहते हुए भी पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपने आत्मचरित्र में पिता जी की वीरता की प्रशंसा की है। इन झाँकियों में ऐसे कई दृष्टान्त अंकित होंगे, जिनसे मेरा उपर्युक्त कथन स्पष्ट हो सके। यहाँ केवल एक दृष्टान्त देकर आगे चलता हूं।

पिताजी संन्यास ले चुके थे। गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता और आचार्य-पद को अन्य कार्य-कर्ताओं ने सम्भाल लिया था। गुरुकुल का उत्सव हो रहा था, उत्सव के निमित्त आकर पिताजी उसी प्रसिद्ध गंगातट वाले बंगले में ठहरे हुए थे। उत्सव का सबसे मुख्य अपील-सम्बन्धी व्याख्यान हो रहा था, इतने में दर्शकों के अनिवास-स्थान की ओर से उठता हुआ धुँआ दिखाई दिया। क्षण भर में शोर मच गया—आग लग गई, आग लग गई। पण्डाल एक दम खाली होगया, सब लोग कैम्प की ओर भागे, वहाँ जाकर देखा तो फूस के छप्पर, बारूद के ढेर की तरह धू धू करके जल रहे थे। दर्शक लोग पागलों की तरह चारों ओर भागने और शोर मचाने लगे। बीसियों बच्चे कैम्प में सोये पड़े थे, इस भयानक आग में

घुसकर कौन उनको बचाए ? यह नहीं सूझता था कि फूस में लगी आग बुझेगी कैसे ? कुछ देर तक आर्तनाद और हाहाकार के सिवा कुछ सुनाई नहीं देता था। यह मेरी कानों सुनी बात है कि गुरुकुल के कई अधिकारी पण्डाल के पास खड़े हो कर दृश्य को देख रहे थे और कह रहे थे कि अब क्या किया जा सकता है ? हम तो पहले ही कहते थे कि फूंस के छप्पर नहीं बनाने चाहियें !

सहसा ऐसी निराशा-जनक परिस्थिति को भेदता हुआ 'चलो, चलो, स्वामी जी आ गए' का शब्द भीड़ में सुनाई दिया और साथ ही बंगले की ओर से तेजी से आते हुए स्वामी जी का सिर और कन्धे जनता के मस्तकों से ऊपर दृष्टिगोचर हुए। स्वामी जी सीधे मेहता गेट पर पहुंचे और शायद आधा मिनट तक सारी स्थिति का निरीक्षण किया, और फिर एक दम धारा-प्रवाह की तरह आज्ञाएँ निकलने लगीं—

'मिट्ठनलाल जी, आप भाग कर जाइये, गोशाला और वाटिका में जितने फावड़े और टोकरियाँ मिलें, सब लिवा लाइये।'

'चिरंजीलाल जी, आप वस्तु-भण्डार में से जितने घड़े या बाल्टियां मिलें, सब लिवा लाइये।'

दोनों के साथ केवल २०-२० आदमी जावें अधिक नहीं। शेष सब मेरे साथ आओ, कह कर स्वामी जी आप आग के

पास जा पहुँचे और दर्शकों को स्वयं-सेवक दलों के रूप में विभक्त कर दिया। एक दल को आज्ञा दी कि हाथों में या कपड़ों में भर कर जैसी भी हो, मिट्टी और रेत ले लेकर आग पर डालो। दूसरे दल को आज्ञा दी कि जिन छप्परों में आग नहीं लगी, उनका सामान निकाल कर बहुत दूरी पर रख दो और उन छप्परों को गिरा दो, और यथाशक्ति घसीट कर आग से दूर ले जाओ। इतने में फावड़े, टोकरियाँ, बाल्टियाँ घड़े, सब चीजें आ पहुँची। एक दल मिट्टी खोदने लगा, दूसरा उसे टोकरियों में भर कर आग पर डालने लगा, तीसरे दल ने कुए तक एक लम्बी लाइन लगादी जहां से घड़ों और बाल्टियों द्वारा पानी आने लगा। आर्तनाद बन्द हो गया। जहाँ अ-व्यवस्था थी, वहाँ व्यवस्था हो गई और लगभग आध घण्टे भर में आग सर्वथा शान्त हो गई। यह दृश्य मेरे हृदय पर बहुत गहरा अंकित है, पैदाइशी नेता ही ऐसे समय अव्यवस्था में से व्यवस्था पैदा कर सकता है।

पिताजी की इन विशेषताओं को ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करके मैं यह बतलाना चाहता हूं कि सार्वजनिक जीवन में उन के साथियों में से इतने अधिक समालोचक क्यों बने? एक और विशेषता जिसकी ओर निर्देश करना अत्यन्त आवश्यक है, उनकी स्पष्ट-वादिता थी। वह इतनी प्रकट और निर्विवाद थी कि उनके भक्त और विरोधी दोनों ही उसे

स्वीकार करते थे। भक्त उसे उनका सबसे बड़ा गुण मानते थे और विरोधी सबसे बड़ा दोष। सार्वजनिक जीवन में किसी बात को या किसी चीज को वह गुप्त नहीं मानते थे। जिसके विषय में जो राय रखते थे वह न केवल सब लोगों के सामने बिल्कुल निःसंकोच भाव से कह देते थे, बल्कि अगर दिल में आगया तो सद्धर्म-प्रचारक में भी लिख देते थे। यह उनके स्वभाव का एक आवश्यक टुकड़ा था।

यहाँ मैंने पिताजी के स्वभाव की जो विशेषताएँ लिखी है, उन के लिए जानबूझ कर विशेषता शब्द का ही प्रयोग किया है। वह गुण थे या दोष, इस विषय में मैंने कोई सम्मति नहीं दी। उनके जीवन काल में इस विषय में सब लोग एक मत नहीं हो सके और न कभी हो सकेंगे। किसी सुन्दर चित्र, उत्कृष्ट काव्य और महान् पुरुष की विशेषताएँ गुण हैं या दोष, इस विषय में एक मत हो भी नहीं सकता। यदि ऐसे पदार्थों के गुण दोष के सम्बन्ध में एक मत हो जाय, तो उनकी असाधारणता जाती रहे। तब तो वह साधारण पदार्थ बन जाय।

अब आप उपर्यक्त विशेषताओं को ध्यान में रख कर विचार करें, तो आप को बहुत आसानी से प्रतीत हो जाएगा कि सार्वजनिक जीवन में पिताजी के इतने विरोधी क्यों बने। वह सार्वजनिक जीवन की जिस दिशा में चले जाते, वहाँ वह

अपने नैसर्गिक गुणों से बहुत शीघ्र अगली पंक्ति में आ जाते थे, और सब से ऊंचे दिखाई देने लगते थे। जैसे उन्होंने अपने आत्म-चरित्र में अपने बचपन और यौवन के सब दोष खुली पुस्तक की तरह खोल कर रख दिये हैं, उसी प्रकार वह सार्वजनिक जीवन में अन्य कार्यकर्ताओं के दोषों को भी निः-संकोच भाव से कह डालते थे। उनके सहसा ऊंचे उठ जाने से सहयोगियों में जो नैसर्गिक ईर्ष्या उत्पन्न होती थी वह उन की स्पष्टवादिता के कारण भड़क उठती थी और आज जो सह-योगी मालूम पड़ता था, वह कल कड़ा आलोचक बन जाता था। किसी विशेष परिस्थिति के आने पर, जब पिताजी कोई नई छलांग मार जाते थे तो उनके पुराने साथी खाई के इसी ओर मुंह ताकते रह जाते थे और पीछे रहने के समर्थन में प्रायः पिताजी के कार्यों की आलोचना किया करते थे।

इस विवेचना के अन्त में एक बात और लिख देनी आव-श्यक है। वह यह, कि पिता जी आलोचनाओं और आक्षेपों के सम्बन्ध में बहुत भावुक थे। कुछ लोग, जो सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करते हुए अपनी अनुभवशीलता को पीछे छोड़ जाते हैं, वे विरोधी आलोचनाओं से अधिक प्रभावित नहीं होते। पिता जी का हृदय इस दृष्टि से बहुत नरम और अनुभवशील था। मैंने उन्हें कई वार दूसरे का दुःख देख कर आँसू बहाते देखा है। प्रायः कोई वृत्तान्त सुनाते हुए या पढ़ते हुए मार्मिक

स्थल के आने पर उन की आँखें आँसुओं से भर जाती थीं। जब कभी वह अपनी आलोचना सुनते थे, तो कभी-कभी रातों नहीं सो सकते थे। सोचते रहते थे कि ये लोग ऐसे नासमझ क्यों हैं ? ऐसे ही अवसरों पर प्रायः उन्हें रोग आ घेरता था, जो कभी-कभी महीनों तक व्याकुल करता था। जिस रात आर्य-प्रतिनिधि-सभा पंजाब में विरोधियों पर उन्होंने पूर्ण विजयलाभ किया, उस रात भर में सिर और दाढ़ी के लगभग आधे बालों के सफेद हो जाने की बात मैं लिख आया हूँ। आधे सिर का दर्द ऐसे ही मानसिक धक्कों का फल था। हम लोग, जो उन के बहुत समीप रहते थे, वे हृदय से चाहते थे, कि वे इतने अनुभवशील न होते। उन का मानसिक दुःख देख कर हम लोगों को बहुत दुःख होता था और वे तो दुःखी रहते ही थे।

कहीं पाठक यह न समझ लें कि जब पिता जी आलोचनाओं से इतने अधिक परेशान हो जाते थे, तो फिर काम कैसे करते होंगे ? यही तो एक मनोवैज्ञानिक चमत्कार था। जैसे कीचड़ में से कमल निकल आता है, ऐसे ही उन की दुःख या उदासीनता की लहरों में से कोई न कोई नया रत्न निकल आता था। गुरुकुल की योजना, सर्वमेध-यज्ञ, संन्यास और सत्याग्रह-प्रवेश आदि सब जीवन की क्रांतिकारिणी घटनाएँ एसे ही मानसिक मन्थन का परिणाम थीं। इन में से कुछ की

चर्चा पहिले हो चुकी है, शेष की चर्चा इन संस्मरणों में आगे चल कर करूँगा।

—

इक्कीसवाँ परिच्छेद

सर्वमेध यज्ञ

अभी हम दोनों भाई स्नातक नहीं बने थे, अगले वर्ष बनने वाले थे। एक दिन प्रातःकाल लगभग ४ बजे हम दोनों को सोते से जगा कर कहा गया कि प्रधान जी ने आप को बुलाया है, बंगले पर चलिए। ऐसे असाधारण समय में बुलाए जाने का कारण हमारी समझ में नहीं आया। पूछने पर सेवक ने उत्तर दिया—मुझे कुछ मालूम नहीं, हाँ इतनी बात अवश्य है कि आज रात भर वह सोए नहीं। पहले टहलते रहे, फिर कुछ लिखते रहे।

जब हम दोनों बंगले पर पहुँचे, तो पिता जी को बड़े कमरे में टहलते पाया। यह उन की विचार की मुद्रा थी, गम्भीर विचार के समय वह पीछे की ओर दोनों हाथ मिला कर टहला करते थे। हमारे पहुँचने पर वे कुर्सी पर बैठ गए और अत्यन्त गम्भीरता से दराज में से फुलिस्केप के आकार का एक लिखा हुआ कागज निकाल कर हमारे सामने रखते

हुए कहा—'इसे पढ़ लो और यदि तुम इस से सहमत हो तो इस बात पर हस्ताक्षर कर दो ।' उस कागज में जो कुछ लिखा था, उस का अभिप्राय यह था—

'मैंने अपनी शक्ति के अनुसार अपने जीवन में वैदिक धर्म की सेवा की है। ऋषि दयानन्द की आज्ञा को शिरोधार्य कर के वैदिक धर्म के पुनरुद्धार और आर्य-जाति के उत्थान के लिए गुरुकुल का संचालन करता रहा हूँ। मैंने गुरुकुल के लिए अपनी सब शक्ति लगा दी है, परन्तु अब मुझे अनुभव हो रहा है कि मेरा अब तक का प्रयत्न अधूरा था, मैंने अभी गुरुकुल के लिए सब कुछ नहीं दिया। जालन्धर में मेरा जो मकान है, वह पुश्तैनी नहीं है, मैंने अपनी कमाई से बनाया है, उस में अभी तक मेरी ममता विद्यमान है। मैं उसे भी मिटा देना चाहता हूँ, इस कारण मैं इन दानपत्र द्वारा वह मकान गुरुकुल काँगड़ी के लिए आर्य-प्रतिनिधि सभा पंजाब को समर्पित करता हूँ।

जब हम उस दानपत्र को पढ़ चुके तो पिता जी ने कहा—'यदि तुम्हें इस में कोई आपत्ति न हो तो वैसा लिख कर दोनों भाई नीचे अपने हस्ताक्षर कर दो, ताकि सभा वाले कोई झगड़ा न मचाएँ।

उस दानपत्र पर हम दोनों के हस्ताक्षरों का महत्व यह था कि इस से कुछ मासपूर्व पिता जी एक वसीयतनामा लिख

चुके थे, जिस में उन्होंने यह लिखा था कि कोठी को बेच कर जो दाम उठें वह दोनों भाइयों को आधे-आधे बाँट दिए जायें। अनुमान यह था कि कोठी बीस हजार में बिकेगी। वसीयतनामे में हरिश्चन्द्र जी को १००००) से प्रेस और पत्र चलाने का आदेश और मुझे विलायत जा कर बैरिस्टरी पास करने का आदेश दिया गया। इस नए दानपत्र से वह वसीयत-नामा रद्द होता था।

हम दोनों ने उस अर्पणनामे को पढ़ लिया और चुप-चाप उस के नीचे स्वीकृति-सूचक हस्ताक्षर कर दिए। तब पिता जी ने हम से कहा कि यह तो तुम्हें मालूम ही होगा कि यह कोठी मेरी अन्तिम भौतिक सम्पत्ति थी। शेष प्रेस आदि सब वस्तुएँ मैं पहले ही दे चुका हूँ। इस कोठी के देने के पश्चात् तुम्हारे लिए कोई वस्तु नहीं बचेगी, इस पर तुम आपत्ति करना चाहो, तो कर सकते हो। जहाँ तक मुझे याद है, शब्दों द्वारा हम दोनों भाई पिता जी के कथन का कुछ भी उत्तर नहीं दे सके। केवल इतना ही सूचित किया कि हमें सब मालूम है, हमें कोई आपत्ति नहीं और यह सूचना भी हम ने शब्दों से नहीं, सिर के इशारे से ही दी थी। इस के पश्चात् हम दोनों आश्रम की ओर चले गए और पिता जी फिर बंगले में टहलने लगे।

हम दोनों यह समझ गए थे कि जब तक स्वयं पिता जी

दान की घोषणा न करें, तब तक दान का संकल्प गोपनीय है। उन दिनों गुरुकुल का उत्सव हो रहा था। उत्सव के निमित्त से हमारे बहुत से सम्बन्धी आए हुए थे। बड़ी बहिन वहीं थीं और सम्भवतः तायी जी भी थीं। हमने दिन भर उन से भी दानपत्र की कोई बात न की। दोपहर बाद गुरुकुल के लिए अपील के सम्बन्ध में पिता जी का भाषण था। उन दिनों अपील का समय उत्सव में सब से अधिक महत्व रखता था। भीड़ और उत्साह की दृष्टि से, वह अवसर अपूर्व समझा जाता था। उस वर्ष अपील से पूर्व शायद आगरे के ठाकुर नत्थासिंह ने 'मथुरा में एक बत्ती धीमी से जल रही थी' वाला भजन ऐसी सुन्दरता से गाया था कि उस के प्रत्येक पद पर करतल-ध्वनि सुनाई दी थी। भजन के बाद पूर्ण सन्नाटे में अपील के लिए खड़े हो कर पिता जी ने निम्नलिखित आशय का भाषण आरम्भ किया—(व्याख्यान का यह आशय मैं स्मृति के भरोसे पर और वह भी बहुत संक्षेप से लिख रहा हूँ)।

कुछ समय हुआ, गुरुकुल के लिए धन-संग्रह करने के निमित्त मैं दिल्ली गया। वहाँ एक मण्डली को साथ ले कर मैं शहर के सब से बड़े रईस के घर चन्दा माँगने पहुँचा। उस रईस को जब गुरुकुल की शिक्षा मण्डली के आने का समाचार मिला तो वह घर के अन्दर चला गया और कहला भेजा कि

रायसाहब टट्टी गए हैं । हम बहुत देर तक वहाँ बैठे रहे, पर रायसाहब घर से बाहर न आए । यह बात मुझे बहुत बुरी मालूम हुई और मैं असन्तुष्ट हो कर मण्डली को ले कर वहाँ से चला आया । डेरे पर आ कर मैंने अपनी अन्तरात्मा से पूछा कि ऐसा क्यों हुआ ? मेरे अन्दर क्या कमी है, जिस के कारण वह धनी आदमी मुझ से बचने की चेष्टा कर रहा था ? और इस का भी क्या कारण है कि उस के बाहर न आने को मैंने बुरा माना ? मेरी आत्मा ने उत्तर दिया, कि इसका कारण यह है कि तूने अभी अपने आप को सर्वतोभाव से धर्म की सेवा में अर्पण नहीं किया और तेरे मन में बची हुई संपत्ति के कारण अहंकार है । उसी समय मैंने निश्चय किया कि मैं अहंकार की जड़, इस थोड़ी सी सम्पत्ति को भी गुरुकुल के अर्पण कर दूंगा और तब वस्तुतः धर्म की सेवा के योग्य हो सकूंगा । इस के पश्चात् पिता जी ने अर्पणनामा पढ़ कर सुना दिया ।

जो बात मैंने इन थोड़ी सी पंक्तियों में लिखी है, वह वस्तुतः लगभग डेढ़ घण्टे के व्याख्यान में कही गई थी । जो नर-नारी उस दिन की अपील में उपस्थित थे, उन्हें उस समय का दृश्य कभी नहीं भूल सकता । प्रारम्भ से ही श्रोता समझ गये थे कि आज की अपील में कोई असाधारण बात है । पिताजी में भावुकता का अंश बहुत अधिक था । उनके

भाव चेहरे के चित्रपट पर तत्काल प्रतिबिम्बित हो जाते थे। हृदय की प्रत्येक भावना आँख, नाक और होठों पर स्पष्टता से झलकने लगती थी और स्वर भी तदनुसार ही प्रभावित हो जाता था। जिस समय बादल के समान गर्जते हुए स्वर से उन्होंने कहा कि मेरी अन्तरात्मा ने उत्तर दिया कि इसका कारण वह अहंकार है, जो थोड़ी सी बनी हुई सम्पति के कारण उत्पन्न होता है तो प्रायः सब श्रोता समझ गए, कि इस के पश्चात् कोई सनसनीपूर्ण घोषणा होने वाली है, यज्ञ-कुण्ड में कोई बड़ी आहुति पड़ने वाली है। वक्ता के स्वर, अवसर और सम्भावित घोषणा का श्रोताओं पर कुछ ऐसा असर पड़ा कि उनकी आँखों में आंसू आ गए, जो वक्ता के प्रत्येक वाक्य के साथ बढ़ते गए और आँखों से बहने लगे। प्लेटफार्म पर अजीब दृश्य हो रहा था। आर्य-प्रतिनिधि-सभा पंजाब के प्रधान लाला रामकृष्ण जी, जो शायद संसार के कुछ एक चुने हुए उन व्यक्तियों में से होंगे, जिन के बारे में भावुक होने का सन्देह भी नहीं किया जा सकता था, वे रो रहे थे। प्रकाश के सम्पादक महाशय कृष्ण जी रुमाल से आँखें पोंछ रहे थे। भक्तराज लाला लब्भूराम नैयर आवाज़ से रो रहे थे। ये तीन नाम मैंने नमूने के तौर पर पेश कर दिये है। अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार प्रायः सभी श्रोता द्रवित हो गये थे। जनता का यह हाल था कि उसे ताली बजाने या भाव व्यक्त करने का

तक का अवसर नहीं मिला, जब तक पिता जी दानपत्र पढ़कर बैठ नहीं गये। व्याख्यान समाप्त होने पर जनता ने दिल खोल कर तालियों और जयकारों के साथ अपना हार्दिक भाव प्रकट किया।

इस प्रसंग में पिता जी की वक्तृत्व-शैली के सम्बन्ध में कुछ शब्द कह देना अप्रसांगिक न होगा। वे भारतवर्ष में अपने समय के कुछ एक ऐसे वक्ताओं में से थे, जिन्हें जनता पर प्रभाव उत्पन्न करने वाला सर्वमान्य वक्ता कहा जा सकता है। वर्षों तक लाहौर के वच्छोवाली आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर उनका व्याख्यान उत्सव का सबसे अधिक महत्वपूर्ण और लोकप्रिय भाग माना जाता था। गुरुकुल के उत्सव पर उनके व्याख्यान के समय अधिक से अधिक भीड़ रहती थी, और अधिक से अधिक सन्नाटा रहता था। संन्यास लेने के पश्चात् जब वह राजनीति में प्रविष्ट हो कर सत्याग्रह आन्दोलन के अगुआ बने, तब सब बड़ी सार्वजनिक सभाओं में उनका बोलना आवश्यक था। जामा मस्जिद के मिम्बर पर हो या पीपल पार्क की व्याख्यान-वेदी पर, हिन्दू मुसलमानों की सम्मिलित भीड़ उन्हें सुनने के लिए लालायित रहती थी। इस से यह तो स्पष्ट है, कि वह वैसे वक्ता थे, जिन्हें अंग्रेजी में "मास ऑरेटर" कहते हैं।

इस सम्बन्ध में समालोचनात्मक दृष्टि से देखने वालों को

आश्चर्य में डालनेवाली बात यह थी कि जब वक्तृत्व के साधारण नपैने से उनकी भाषण-शैली को नापा जाता था, तब उसकी सफलता का रहस्य समझना कठिन हो जाता था। पिता जी की भाषण शैली की आलोचना करना मेरे लिए छोटे मुँह बड़ी बात ही है, परन्तु उस की सफलता का रहस्य जानने के लिए थोड़ा सा विश्लेषण आवश्यक है। यदि उन के किसी भाषण की शब्दशः रिपोर्ट ली जाती, और फिर केवल भाषण की दृष्टि से उसकी परीक्षा की जाती तो उस में एक दोष प्रतीत होता था कि बहुत से वाक्य अधूरे रहते थे और कभी-कभी एक वाक्य की संगति दूसरे से पूरी तरह नहीं मिलती थी। वक्तृत्वकला में माने हुए विभावों और अनुभावों का उनके भाषणों में सर्वथा अभाव रहता था। न कभी वे अपने व्याख्यान को लिखते थे और न व्याख्यान वेदी के अनेक सिंहों की तरह बड़े आइने के सामने खड़े हो कर हाथ आदि की चेष्टाओं का अभ्यास करते थे। इन सब कला-सम्बन्धी त्रुटियों के रहने पर भी यह असंदिग्ध बात है, कि वे जिस व्याख्यान वेदी पर खड़े हो जाते, उस पर अपना पूरा प्रभुत्व स्थापित कर लेते थे, और जनता को अपनी भावना से प्रभावित कर देते थे।

पिता जी की इस सफलता का रहस्य क्या था? इस प्रश्न का उत्तर संक्षेप में यह है कि वे केवल तब बोलने के

लिए खड़े होते थे, जब उनके अन्दर से कोई प्रेरणा उठती थी। श्रद्धा और गहरी धार्मिक भावना के कारण उन की आन्तरिक प्रेरणा सदा गम्भीर और तेजस्विनी होती थी। केवल बोलने के लिए वे नहीं बोलते थे। उस गम्भीर और तेजस्विनी प्रेरणा से प्रेरित हो कर वे जो कुछ कहते थे, वह श्रोताओं के हृदयों को चीरता हुआ चला जाता था। श्रोताओं का ध्यान न उन के वाक्यों के अधूरेपन पर होता था और न वक्तृत्व-कला के दोषों पर। श्रोता केवल इतना अनुभव करते थे, कि वे एक सच्चे हृदय की पुकार सुन रहे हैं और उस से प्रभावित हो जाते थे। एक सफल रिपोर्टर ने यत्न किया कि पिता जी के कुछ बड़े-बड़े व्याख्यानों की शब्दशः रिपोर्ट को संग्रह-रूप में प्रकाशित करे, वह यत्न बहुत ही भद्दा रहा। पढ़ने से उन व्याख्यानों का महत्व समझ में नहीं आ सकता था। वे केवल शब्द थे, उन में वह हृदय नहीं था, जो केवल वक्ता की ध्वनि से प्रतिबिम्बित हो सकता है। इस मौलिक कारण के साथ ही पिता जी का विशाल शरीर, भव्य मूर्ति और गम्भीर तथा ऊँचा स्वर भी उन्हें जनता के हृदयों तक पहुँचने में सहायता देता था। जिस व्याख्यान की मैंने इस अध्याय में चर्चा की है वह उनके अत्यन्त प्रभावशाली व्याख्यानों में से एक था। उस की सफलता का यह एक ज़बरदस्त प्रमाण था, कि उस में व्याख्यान-वेदी पर बैठे हुए अनेक वकीलों की आँखों में

आँसू बह रहे थे। यह लगभग सर्व-सम्मत बात है, कि कानून का पेशा करने वाले लोग बुद्धिप्रधान और अतएव भावुकता-हीन हो जाते हैं, उन्हें पिघलाने के लिए बहुत ही असाधारण गर्मी की आवश्यकता होनी चाहिए।

उस दिन के दानपत्र द्वारा जिस यज्ञ से पूर्णाहुति डाली गई, उसका प्रारम्भ लगभग २० वर्ष पूर्व हो चुका था। जालन्धर में वकालत आरम्भ करने और समाज-मन्दिर के सामने वाली कोठी बनाने के मध्य में लगभग ८-१० साल व्यतीत हुए होंगे, उन्हीं को वस्तुतः पिता जी के सांसारिक जीवन के वर्ष कहा जा सकता है। माता जी की मृत्यु से पूर्व ही वे आर्य-समाज में प्रवेश कर चुके थे। यह उनके स्वभाव की विशेषता थी, कि वे किसी भी क्षेत्र में आधा प्रवेश नहीं करते थे। आर्य-समाज में भी उन्हों ने जब प्रवेश किया, तो शीघ्र ही तन्मय हो गए। सद्धर्म प्रचारक प्रेस, और पत्र की स्थापना भी आर्य-समाज के प्रचार की दृष्टि से ही की गई थी। शीघ्र ही उनका ध्यान वकालत की ओर से हट कर आर्य-समाज की ओर झुकता गया। लाहौर में आर्य-समाज की दो पार्टियों के संघर्ष ने उन पर एक (महात्मा) पार्टी के नेतृत्व का चोला डाल दिया, जिस से उन का अधिक समय आर्य-समाज के अर्पण होने लगा। कभी-कभी तो आर्य-समाज के उत्सवों के कारण वे सप्ताहों और महीनों

तक अदालत में उपस्थित नहीं हो सकते थे। गाँव जा कर अपनी ज़मीन की देख-भाल करना भी इसी बीच में छोड़ दिया था।

लाहौर में कालेज-पार्टी के संघर्ष का मुख्य परिणाम यह हुआ कि महात्मा पार्टी ने वेद-प्रचार के कार्य को अपनाया और पूरे ज़ोर से चलाया। संघर्ष में स्वभावतः गर्मी उत्पन्न होती है, उस गर्मी ने महात्मा पार्टी के कार्य-कर्ताओं को असाधारण प्रेरणा दी, जिस से आर्यसमाजों का जाल पंजाब के कोने-कोने में फैल गया।

पार्टी की दृष्टि से यह कार्य बहुत शानदार हुआ, परन्तु पिता जी उतने से संतुष्ट नहीं हो सके। कालेज पार्टी पर महात्मा पार्टी का सब से बड़ा आक्षेप यह था कि कालेज में प्रचलित पाठ्य प्रणाली ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित पाठ्य प्रणाली के विरुद्ध और अनार्ष है। कालेज वाले कहते थे, यदि हमारी विधि अनार्ष है, तो तुम आर्ष विधि चला कर दिखाओ। इस चुनौती का जवाब पिता जी का गुरुकुल सम्बन्धी संकल्प था, जिस की पूर्ति में उन्होंने अपने यौवन का उत्तर भाग और सम्पूर्ण प्रौढ़ भाग सर्वतोभाव से लगा दिया। वकालत तो तभी छूट गई, जब पिता जी गुरुकुल के लिए ३००००) एकत्र करने की प्रतिज्ञा कर के घर से निकले। जब वह हरिद्वार के समीप गंगा के उस पार मुन्शी अमनसिंह जी ने

गुरुकुल के लिए अपना काँगड़ी ग्राम दे दिया तब पिताजी ने घर भी छोड़ दिया और अपना बोरिया बँदना उठा कर गुरुकुल की भूमि में आ गए। सद्धर्म-प्रचारक प्रेस और पत्र जालन्धर वाली कोठी में ही चलते रहे। हम दोनों भाइयों को पिता जी ने सब से प्रथम गुरुकुल के छात्रों की सूचि में अंकित करा दिया था। उन दिनों सम्भवतः ब्रह्मचारियों से १०) मासिक फीस ली जाती थी, पीछे से वह निरन्तर बढ़ती गई। जब तक हम दोनों गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करते रहे तब तक निरन्तर हमारी फीस दी जाती रही। पिता जी निजू खर्च भी गुरुकुल से नहीं लेते थे। यह सब राशि सद्धर्म-प्रचारक की आय से ही दी जाती थी। वर्षों तक सद्धर्म-प्रचारक जालन्धर से निकलता रहा, परन्तु आँखों से इतना दूर रहने के कारण पिता जी ने उसे हरिद्वार मँगा कर चलाने का निश्चय किया। स्वर्गीय पं० केशवदेव शास्त्री की प्रबन्धकता में पत्र हरिद्वार में कुछ वर्ष तक चलता रहा, परन्तु पूरी देख-भाल न होने से वहाँ भी सन्तोष-जनक प्रबन्ध नहीं हो सका, फलतः पिता जी को कुछ समय के लिए हरिद्वार जा कर रहना पड़ा। इस का असर गुरुकुल के प्रबन्ध पर पड़ा, जिस से प्रभावित हो कर पिता जी ने निश्चय किया, कि प्रेस से भी मुक्ति पायी जाय, और सम्पूर्ण सद्धर्म-प्रचारक प्रेस गुरुकुल को दे दिया। सद्धर्म-प्रचारक पत्र अपना ही रक्खा, वह सद्धर्म-प्रचारक प्रेस में

छपता था, और उसकी छपाई गुरुकुल को दी जाती थी। गाँव में हवेली और ज़मीन के जो टुकड़े थे वह इस से पूर्व ही सम्बन्धियों को दिए जा चुके थे। प्रेस का दान देने के पश्चात् कोठी के सिवा और कोई स्थिर सम्पत्ति पिता जी के पास शेष नहीं बची थी, फलतः कोठी के दान को सर्वमेध यज्ञ की पूर्णाहुति कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। दान की घोषणा के पश्चात् हितैषी लोग आँसुओं से भरी हुई आँखें और दुःख से लम्बायमान मुँह ले कर पिता जी के पास गए, परन्तु वहाँ देखा कि उन के मुँह पर साधारण से भी अधिक सन्तोष और प्रसन्नता है। मानों एक भारी बोझ सिर पर से उतर गया हो। जो लोग सहानुभूति प्रकट करने गए थे, उनका साहस न हुआ कि कुछ कहें, उल्टा मन पर यह असर पड़ा कि शायद मकान के बोझ से ही महात्मा जी की सेहत खराब रहती थी, जो बोझ उतर जाने से अच्छी हो जायगी।

कुछ महानुभावों ने हम भाइयों पर करुणा भरी दृष्टि डालने की कृपा की। हम से मिले और कहा कि महात्मा जी ने यह बहुत बुरा किया। यदि तुम लोग उज्रदारी करो तो दान-पत्र रद्द हो सकता है। पाठकों को जान कर यह आश्चर्य होगा कि ऐसा कहने वाले महानुभाव आर्य-समाजी ही थे। जब हम से उन्हें कोई प्रोत्साहन नहीं मिला, तो उन्होंने यही परिणाम निकाला होगा कि हम तो पहले ही जानते थे कि गुरुकुल

के ब्रह्मचारी बुद्धू होते हैं, अपनी भलाई बुराई को नहीं समझते।

—

बाईसवाँ परिच्छेद

पट परिवर्तन

१६१७ के अप्रैल मास में, गुरुकुलोत्सव से एक दिन पहले प्रातः काल के समय पिता जी ने मुझे अपने बंगले पर बुला कर सूचना दी कि 'मैंने कल संन्यास लेने का निश्चय कर लिया है'। यह मैं पहले बता आया हूँ कि हम दोनों भाइयों पर पिता जी का बहुत आतङ्क था। मुझे यह याद नहीं कि उन्होंने कभी हमें शारीरिक दण्ड दिया हो, इस का कारण यह नहीं कहा जा सकता कि उस आतङ्क का कारण भय था। सम्भवतः उस का कारण जहाँ पिता जी का महान् व्यक्तित्व था, वहाँ साथ ही यह भी था कि वे हमारे बचपन में हम लोगों के अधिक निकट नहीं आए। गुरुकुल के जीवन में वे मुख्याधिष्ठाता थे और हम छात्र। हमारा उन से वही सम्बन्ध था जो अन्य दूसरे छात्रों का। स्वभावतः उस समय तक हम दोनों भाई पिता जी से किसी विषय पर वाद-विवाद नहीं कर सकते थे, इतना साहस ही नहीं होता था। जिस

दिन की मैं बात लिख रहा हूँ शायद वह पहला दिन था, जब मैंने पिता जी से कुछ पूछने का साहस किया ।

यह समाचार मुझे अन्य मार्गों से पहले ही मिल चुका था कि पिता जी संन्यास लेंगे । अवसर मिलने पर मुझे जो-जो आपत्तियाँ उठानी थीं, वह भी मैंने पहले से मन में तैयार कर रखी थीं । वह आपत्तियाँ निम्न प्रकार की थीं—'संन्यास की प्रथा देश और जाति के लिए बहुत हानिकारक है । आप तो पहले ही 'संन्यासी' हैं, वेष बदलने से क्या लाभ ? संन्यास ले लेने पर भी आप को सार्वजनिक कामों के झंझट से छुट्टी नहीं मिलेगी ।' मेरे इन तर्कों से पिता जी आश्चर्यित जरूर हुए, हाँ, इतना सन्तोष जरूर हुआ कि वह दुखित अथवा रुष्ट नहीं हुए । अपने संन्यास लेने के पक्ष में उन्होंने बहुत सी बातें मुझे समझाईं । देर तक मैं सन्देह की दशा में ही बना रहा । किन्तु जब अन्त में पिता जी ने गम्भीर भाव से कहा—'इन्द्र, तुझे तो मालूम ही है कि मैं युक्ति के आधार पर कोई कदम नहीं उठाता, केवल श्रद्धा से प्रेरित हो कर ही उठाता हूँ । यह निश्चय भी मैंने श्रद्धावश ही किया है । मेरा यह निश्चय अटल है ।' तब मैंने मौन हो कर सिर झुका दिया ।

इस प्रसंग में पाठक देखेंगे कि मैंने पिता जी के पास अपने एकाकी बुलाए जाने की बात लिखी है । इस से पूर्व प्रायः दोनों भाइयों की इकट्ठी चर्चा करता रहा हूँ । इस के लिए

बीच के वर्षों की कुछ घटनाओं की ओर संक्षिप्त निर्देश कर देना आवश्यक है। १९१२ में हम दोनों भाई स्नातक हुए। मैंने इस से पूर्व एक संस्मरण में लिखा था कि पिता जी हरिश्चंद्र जी को पत्रकार और मुझे बैरिस्टर बनाना चाहते थे। परंतु 'हमारे मन कुछ और हैं, विधना के कुछ और'। घटनाचक्र उल्टी गति से चलता रहा। मैं स्नातक बनने से पूर्व ही 'सद्धर्म-प्रचारक' के सम्पादन में सहायता देने लगा था। छात्रावस्था में कई वर्षों तक हस्तलिखित पत्रिका निकलता रहा। स्नातक होने के समय मेरा मन पत्रकार-कला की ओर पूरी तरह झुक चुका था। फलतः मैं 'सद्धर्म-प्रचारक' का सम्पादक बन कर दिल्ली चला आया और भाई हरिश्चन्द्र जी गुरुकुल काँगड़ी में उपाध्याय का कार्य करने लगे। वह उपाध्याय के तौर पर गुरुकुल में एक वर्ष से कुछ अधिक समय तक रहे। उसी वर्ष उन का विवाह हो गया। अगले वर्ष हम लोगों ने स्थान परिवर्तन कर लिया। वह दिल्ली आ कर पत्रकार बन गए और मैं गुरुकु जा कर उपाध्याय का कार्य करने लगा। दिल्ली आ कर भाई जी ने 'सद्धर्म-प्रचारक' के अतिरिक्त साप्ताहिक 'विजय' निकालना भी आरम्भ कर दिया। वह कुछ दिनों तक खूब चमका परन्तु उस की चमक को स्थानीय सरकार न सह सकी और ६ या ७ अङ्क निकाल कर ही उस की इतिश्री कर देनी पड़ी।

१६१४ में योरप का पहला महायुद्ध आरम्भ हो गया। 'विजय' का प्रकाशन बन्द होने से भाई जी उदास हो चुके थे, इधर संसार की इतनी बड़ी घटना को देखने के लिए मन में जो स्वाभाविक गुदगुदी पैदा होती है, वह बहुत तीव्र हो चुकी थी। उसी समय प्रसिद्ध देशभक्त महेन्द्र प्रताप जी ने भाई जी को विलायत चलने के लिए निमन्त्रित कर दिया। राजा साहब विदेश जाने का अन्तिम निश्चय कर चुके थे। भाई जी को मानो मुंहमांगी मुराद मिली। वह झटपट दिल्ली का घरबार समेट कर देहरादून चले गए और वहाँ से पिताजी की आज्ञा, मेरी अनुमति और अपनी सहधर्मिणी की सम्मति लिए बिना ही चुपचाप राजा महेन्द्र प्रताप जी के साथ विलायत को रवाना हो गए। उस समय भाई जी का पुत्र रोहिताश्व कुछ महीनों का ही था।

इस प्रकार घटना चक्र ने पिता जी के पास उपस्थित होने के लिए मुझे अकेला ही छोड़ दिया।

उस वर्ष का गुरुकुलोत्सव पिता जी के संन्यास के रंग से रंगा हुआ था। प्रायः सभी व्याख्यान और भाषणों में उस की चर्चा की गई। आर्य जनता की ओर से एक मानपत्र भेंट किया गया। अपील के समय अभ्यर्थना के तौर पर कोई शब्द न कहने पर भी लगभग ७० हजार रुपये एकत्रित हो गए।

पिता जी के संन्यास आश्रम में प्रवेश के समाचार को लोगों ने अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में सुना। मुझ से अनेक सज्जनों ने उस विषय में बात चीत की, जिस से मैं उन की भावनाओं को भली प्रकार भाँप सका। सामान्य आर्य जनता बहुत सन्तुष्ट और प्रसन्न थी। उसे पिता जी के त्यागमय जीवन का यह अन्तिम चरण उचित ही प्रतीत होता था। गुरुकुल और सभा के कुछ मुख्य अधिकारियों के सन्तोष और प्रसन्नता के भाव में कुछ थोड़ा सा यह संकुचित भाव मिश्रित प्रतीत होता था, कि महात्मा जी के संन्यास ले कर गुरुकुल से अलग हो जाने पर एक बड़ा लाभ यह होगा कि उन लोगों को गुरुकुल का संचालन करने का इच्छानुसार खुला मौका मिलेगा। पिता जी के विशाल व्यक्तित्व से वे अपने मार्ग को रुका हुआ समझते थे। निजी बातचीत में ऐसे लोग अपने भाव को काफी स्पष्टता से प्रकाशित कर रहे थे। सभा के मुख्य अधिकारियों में से जो सब से ऊंचे अधिकारी थे, उन्हें पिता जी के संन्यास लेने के विचारमात्र से ही अत्यन्त दुःखी पाया। वह थे आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान लाला रामकृष्ण जी।

लाला रामकृष्ण जी का सार्वजनिक जीवन पिता जी के सार्वजनिक जीवन में इतना ओत-प्रोत था कि उन के विषय में विशेष चर्चा किए बिना मैं इस प्रसंग को समाप्त करना नहीं

चाहता। लाला रामकृष्ण जी पिता जी के सब से पुराने और स्थिर साथियों में से थे। जब हम बहुत छोटे थे, गुरुकुल में जाना तो दूर रहा, प्राइमरी स्कूल में भी अभी पढ़ने नहीं गए थे, तब की बात याद है कि लाला रामकृष्ण जी हमारे मकान पर प्रायः प्रतिदिन सायंकाल को आ कर पिता जी से बातें किया करते थे। पिता जी आर्य समाज जालन्धर के प्रधान थे। लगभग २० साल के पश्चात् जब पिता जी ने संन्यास लेने का विचार किया, तब लाला रामकृष्ण जी गुरुकुल की स्वामिनी सभा आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान थे और पिता जी गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता थे। बचपन की यह बात याद है कि हमारा साईस और लाला रामकृष्ण जी का साईस दोनों भाई थे। हमारे साईस का नाम नबीबख्श था और उन के साईस का नाम मुरादबख्श १९१७ की यह बात याद है कि जब जनता और साथ के अन्य काम करने वालों ने पिता जी को महात्मा जी कहना शुरू कर दिया, तब भी केवल लाला रामकृष्ण जी ही एक थे जो उन्हें केवल मुन्शीराम जी कह कर बुलाया करते थे और पिता जी भी उन्हें रामकृष्ण जी कह कर पुकारा करते थे। उन के प्रेम का ही बन्धन था, जिस ने तीन वर्ष तक पिता जी को संन्यास लेने से रोक रखा।

यों चरित्र विश्लेषण की दृष्टि से, पिता जी की और

लाला रामकृष्ण जी की तुलना बहुत ही मनोरँजक हो सकती है। ऊपर के रूप की दृष्टि से दोनों में पूर्ण विषमता थी। पिता जी हज़ारों की भीड़ में भी सब से अलग और प्रमुख दिखाई देते थे और लाला रामकृष्ण जी को सभा के प्रधान की कुर्सी पर बैठे होने पर भी तब तक कोई प्रधान नहीं समझ सकता था, जब तक उसे बताया न जाय। पंजाब के खत्रियों का सा साधारण वेष, छोटी-छोटी दाढ़ी और शान का सर्वथा अभाव उन्हें मध्यम श्रेणी की जनता में मिला देता था। पिता जी कहा करते थे कि लाला रामकृष्ण जी चौबीस घण्टों में एक वाक्य प्रति घण्टा के हिसाब से अधिक कभी नहीं बोलते। व्याख्यान देने के लिए उन्हें व्याख्यान वेदी पर आते मैंने कभी नहीं देखा। सम्भव है, कोई सौभाग्यशाली ऐसा हो जिसने कभी एकाध वार उन का पांच मिनट का व्याख्यान सुना हो।

ऐसा व्यक्ति था, जिस ने ग्यारह या बारह वर्षों तक आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब जैसी सजीव और कोलाहल पूर्ण संस्था का संचालन किया। ऐसा मित्र था जिस ने बीस से अधिक वर्षों तक पिता जी के साथ अटूट सामाजिक बन्धुत्व निभाया। बीसियों मित्र बने और अलग हो गए, उनसे भी अधिक लोग भक्त श्रेणी में शामिल हुए और साथ न चल सकने के कारण या तो पिछड़ गए अथवा समालोचक बन

गए। पर लाला रामकृष्ण जी ने पिता जी के सम्पूर्ण आर्य-सामाजिक जीवन में अपने को लक्ष्मण बनाए रखा। दृढ़ता और स्थिरता यह दो प्रधान रामकृष्ण जी के जीवन के मूल मन्त्र थे। उन्होंने उन्हें कुन्दन बना दिया था।

गुरुकुल के उत्सव की समाप्ति से अगले दिन पिता जी संन्यास ग्रहण करने वाले थे। मैंने देखा कि गुरुकुल में विद्यमान सभी नर-नारी ऐसा अनुभव कर रहे थे जैसे उन का बुजुर्ग ही संन्यास ले रहा हो। जैसे किसी सम्बन्धी के अलग होने से दुःख होता है, वैसा ही सब लोग अनुभव कर रहे थे। केवल युक्ति की कसौटी पर कस कर देखें तो वह दुःख सहेतुक प्रतीत नहीं होता था। वह संन्यास ही तो ले रहे थे, देश छोड़ कर तो नहीं जा रहे थे। हमारी बड़ी बहन वेद कुमारी जी आँसुओं से रो रही थीं। गुरुकुल के ब्रह्मचारी और अध्यापक जब अपने मुख्याधिष्ठाता और आचार्य को विदा दे रहे थे, तब उन की आँखें भीगी हुई थीं। दूसरे की क्या कहूँ, मैं स्वयं इस बात पर आश्चर्यित था कि कई वार आँसुओं ने मेरी आँखों से भी निकलने का यत्न किया और जब मैंने यह सोच कर कि इस अवसर पर रोना अहेतुक है, उन्हें बार-बार रोकने का प्रयत्न किया तो उस का मेरे शरीर पर बुरा असर पड़ा। संस्कार से एक दिन पहले मुझे ज्वर आ गया।

उत्सव से अगले रोज प्रातःकाल गंगा के इस पार मायापुर वाटिका में संन्यास ग्रहण का समारोह हुआ। गुरुकुल के उत्सव में उपस्थित प्रायः सभी नर-नारी मायापुर में ठहर गए। संस्कार के समय हजारों की भीड़ थी। आर्यसमाज के बहुत से संन्यासी, पण्डित तथा अधिकारी साक्षी रूप से उपस्थित थे।

संस्कार में सब से विशेष बात यह हुई कि पिता जी ने किसी महानुभाव को अपना आचार्य न बना कर परमात्मा को ही आचार्य माना और जो प्रक्रिया आचार्य द्वारा होनी चाहिए थी, वह स्वयं ही पूरी कर ली। इस पर कुछ संन्यासियों और पुराने ढंग के रूढ़िवादी आर्य लोगों में भी काफी असन्तोष उत्पन्न हुआ। हल्की सी बुड़बुड़ाहट भी सुनाई दी, परन्तु जब पिता जी क्षौर करा कर और विधि-पूर्वक भगवा बेष पहन कर यज्ञ मण्डप में आए तो चारों ओर से जो प्रसन्नता सूचक जयकारों और तालियों की गड़गड़ाहट का शब्द उठा, उस में सब विरोधी भावनाएँ दब गईं। अन्त में पिता जी ने खड़े हो कर निम्नलिखित आशय की घोषणा की—

'मैं सदा सब निश्चय परमात्मा की प्रेरणा से श्रद्धा-पूर्वक ही करता रहा हूँ। मैंने संन्यास भी श्रद्धा की भावना से प्रेरित हो कर ही लिया है। इस कारण मैंने 'श्रद्धानन्द' नाम धारण

कर के संन्यास में प्रवेश किया है । आप सब नर-नारी प्रभु से प्रार्थना करें कि वे मुझे अपने इस नये व्रत को पूर्णता से निभाने की शक्ति दें।'

इस प्रकार श्रद्धा से प्रेरित हो कर सर्वमेध-यज्ञ का यह अन्तिम विधान भी पिता जी ने पूरा कर दिया। इस का एक परिणाम यह हुआ कि मेरा पिता जी कहने का अधिकार छिन गया और मुझे भी अन्य सब लोगों की तरह स्वामी जी कहने के लिए ही कर्तव्यबद्ध होना पड़ा।

तेईसवां परिच्छेद

राजनीति के रणक्षेत्र में

लगभग दो वर्ष पूर्व, १९१७ ई० के अप्रैल मास में पिता जी मायापुर वाटिका में संन्यास ग्रहण कर रहे थे और मैं गुरुकुल काँगड़ी के उपाध्याय की हैसियत से दर्शकों में बैठा हुआ था। घटनाचक्र का यह बृत्तान्त जो मैं अब सुनाने लगा हूँ, १९१९ ई. के मार्च मास के अन्त में प्रारम्भ होता है।

२९ मार्च १९१९ के सायंकाल दिल्ली में एक विराट् सभा हुई । उस के सभापति स्वामी जी (पिता जी) थे । उपस्थिति लगभग १० हजार की थी, जो सत्याग्रह आन्दोलन

के प्रारम्भ काल में बहुत बड़ी मानी जाती थी। सभा में जिन वक्ताओं के भाषण हुए, उन में मेरे अतिरिक्त मिस्टर अब्बास हुसैन कारी, मौलाना अहमद सईद और लाला शंकरलाल के नाम उल्लेख योग्य हैं। सभा का उद्देश्य दिल्ली निवासियों को उस हड़ताल की सूचना देनी थी, जो ३० मार्च को रौलट एक्ट के विरुद्ध प्रतिवाद के रूप में होने वाली थी।

इस समाचार को भली प्रकार समझने के लिए बीच की कुछ घटनाओं का दिग्दर्शन उपयोगी होगा। स्वामी जी ने संन्यास लेने के साथ ही गुरुकुल छोड़ दिया और दिल्ली आ गए। दिल्ली के प्रसिद्ध दानवीर सेठ रग्घूमल लोहिया चिर-काल से स्वामी में जी श्रद्धा और आस्था रखते थे। नया बाज़ार (बर्नबैश्चन रोड, वर्तमान श्रद्धानन्द बाज़ार) पर उम के दो मकान थे। उन में से एक मकान की पहली सारी मञ्जिल सेठ जी ने आश्रम के तौर पर उपयोग में लाने के लिए स्वामी जी को समर्पित कर दी। स्वामी जी ने उस में आश्रम बनाया और जीवन के शेष वर्षों में उसी में स्थिर निवास रखा। उसी मकान को 'श्रद्धानन्द-बलिदान-भवन' के नाम से प्रसिद्ध होने का सौभाग्य मिला है। बीच के दो वर्षों में स्वामी जी ने दिल्ली में तथा उत्तरीय भारत के अन्य प्रदेशों में दलितो-द्धार आन्दोलन को जागरित और संगठित किया।

मैंमे १९१८ के अन्तिम भाग में गुरुकुल से एक वर्ष की

फर्लो प्राप्त कर ली थी, और नये बाजार के ही दूसरे भाग में एक मकान किराए पर लेकर 'विजय' नाम का दैनिक पत्र निकाला था। 'विजय' की कहानी कहीं अन्यत्र विस्तार से सुनाई जायगी, यहां तो वृत्तान्त के क्रम को बांधने के लिए केवल इतना बतला देना आवश्यक है कि मैं गुरुकुल से अवकाश लेकर दिल्ली आ गया था और दैनिक 'विजय' का सम्पादन और संचालन करता था। 'विजय' दिल्ली और पंजाब का पहला हिन्दी दैनिक-पत्र था। उसका दृष्टिकोण विशुद्ध राष्ट्रीय था।

१९१८ ई० में योरप का पहला महासंग्राम समाप्त हुआ। युद्ध के समय इङ्गलैंड के शासकों ने हिन्दुस्तानियों को स्वराज्य की बड़ी-बड़ी आशाएँ दिलाई थीं। जब युद्ध समाप्त हो गया, और इङ्गलैंड की जीत हो गई तो भारतवासियों को स्वराज्य की पहली किश्त रौलट ऐक्ट के रूप में पेश की गई। उस समय की प्रचलित भाषा में रोटी की आशा दिला कर पत्थर भेंट किया गया। देश में इस विश्वासघात के कारण असन्तोष और रोष की घोर ज्वाला उत्पन्न हुई जो निरन्तर बढ़ती गई। अन्त में महात्मा गांधी मैदान में आये और देश-वासियों के सामने अहिंसात्मक सत्याग्रह द्वारा रौलट ऐक्ट का विरोध करने का प्रस्ताव रखा।

रही । अभी महात्मा गाँधी ने हड़ताल का दिन निश्चित नहीं किया था कि दिल्ली की सत्याग्रह कमेटी ने यह घोषणा कर दी कि ३० मार्च को शहर में पूरी हड़ताल होगी और उपवास रखा जायगा । जिस सभा के विवरण से यह परिच्छेद आरम्भ हुआ है, वह उसी दिवस का कार्यक्रम जनता को समझाने के लिए बुलाई गई थी ।

उस सभा में कई विशेषताएँ थीं, जिन्हें हम राजनीति में आने वाले युग के चिन्ह कहें तो अनुचित न होगा । स्वामी जी का तब तक का जीवन धर्म और शिक्षा के विस्तार में व्यतीत हुआ था, वे पहली वार इतनी बड़ी राजनीतिक सभा का सभापतित्व कर रहे थे । मौ० अहमद सईद का इस से पूर्व राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं था । वे मस्जिद में कुरान की शिक्षा देते थे, मजहबी जलसों में वाज़ करते थे, और कभी-कभी आर्य-समाजी पण्डितों से मुबाहिसा भी किया करते थे । उन का एक राजनीतिक जलसे में आना समय का चिन्ह था । १९१४-१८ के युद्ध में टर्की का अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ कर परास्त होना और फिर मित्रराष्ट्रों की जीत के कारण खिलाफत का नष्ट-प्राय होना अपना असर दिखा रहा था । मौलवी सम्प्रदाय की अंग्रेज़ी विरोधिनी भावना प्रतिदिन वृद्धि पर थी ।

कारी साहिब उन मुसलमान नौजवानों में से थे, जो
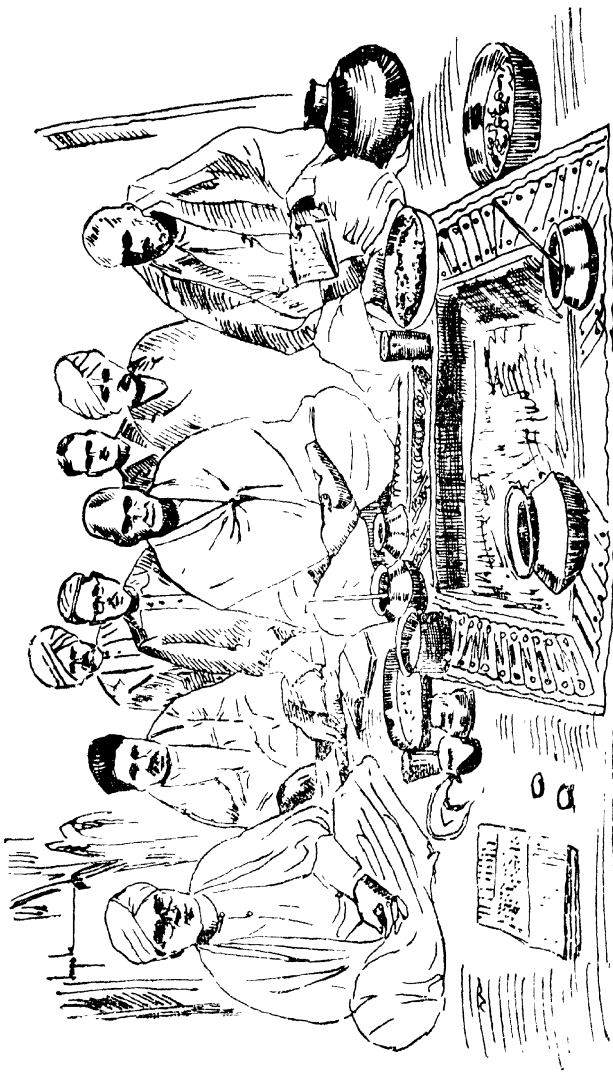
स्वामी श्रद्धानन्द जी सन्यास-ग्रहण कर रहे हैं।

मजहबी दीवाने नहीं थे । उनके हृदयों में वस्तुतः देशभक्ति का भाव विद्यमान था। वे प्रसन्न थे कि घटनाचक्र ने उनके मजहब को राजनीति के अनुकूल बना दिया है। उन्हें सन्तोष था कि वह कट्टर मुसलमान रहते हुए भी जनता के सामने देश-भक्ति की बातें कह सकते थे ।

मेरा बचपन से ही राजनीति की ओर झुकाव था । दिल्ली आ कर मेरे उस झुकाव को पनपने और कार्यरूप में परिणित होने का अवसर मिला, मानो प्यासे को पानी मिल गया। पिता जी के राजनीति-प्रवेश ने मुझे अवसर दिया कि मैं अपनी बचपन की हवस को पूरा करने के लिए गहरे पानी में लम्बी छलाँग लगा दूँ ।

३० मार्च का दिन शुभ लक्षणों के साथ प्रारम्भ हुआ । प्रातः काल उठते ही चारों ओर पूरी हड़ताल के दृश्य दिखाई दिए। सब बाज़ार एकदम बन्द थे। हज़ार में से नौ सौ नव्वे दूकानें खुली ही नहीं थीं । क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, क्या सिक्ख और क्या जैनी सब ने एकदम हड़ताल कर दी थी । चमारों और कसाइयों तक ने पंचायत कर के काम बन्द कर दिया था । सदर के एक आनरेरी मजिस्ट्रेट खां साहब ने दूकान खोल तो दी और भाई बन्धुओं की कोई परवाह न की, लेकिन लोकमत का बल देखिए, थोड़ी देर में खां साहब भी तालियाँ, जेब में दबाए घर जाते नजर आए । आठ बजते-

बजते पता चल गया कि सारा शहर आज हड़ताल पर है । शेष १० फी सदी दुकानें दोपहर से पहले बन्द हो गईं ।

धीरे-धीरे बाजार बन्द कर के लोग सड़कों पर आने लगे । आ कर देखा तो सवारियों से भरी ट्रामें चल रही थीं । जनता ने ट्राम, तांगा और इक्कों की सवारियों के आगे हाथ जोड़े और पैदल चलने को कहा । परिणाम यह हुआ कि एक घण्टे भर में सारे शहर की ट्रामें बिलकुल बन्द हो गईं और तांगे तथा इक्के खाली घूमने लगे । नाई हजामत बना रहे थे, उन से पूछने पर उत्तर मिला कि साहब, हम किसी से पैसा न लेंगे । हलवाइयों के पास बांध का दूध आया, वह सब उन्होंने बच्चों और गरीबों को मुफ्त बाँट दिया । चाँदनीचौक की घण्टाघर वाली प्रसिद्ध दुकान ने पांच मन दूध इसी प्रकार बाँट दिया ।

यह समाचार मैंने थोड़े से शाब्दिक परिवर्तन के साथ उस समय के 'विजय' से उद्धृत किए हैं । इस अध्याय में स्थान-स्थान पर मै इसी प्रकार 'विजय' के उद्धरण दूंगा । उस समय 'विजय' का सम्पादक मैनेजर और रिपोर्टर मैं ही था । यह सब वृत्तान्त मेरा ही लिखा हुआ है । इस कारण इसे मैं अपनी स्मृतियों का बिलकुल ताजा टुकड़ा ही समझता हूँ ।

नौ बजे तक शहर में बिलकुल शांत हड़ताल रही । उस के पश्चात् तरह-तरह के विक्षोभजनक समाचार फैलने लगे ।

एक समाचार यह फैला कि हौज काजी के पास कुछ लड़कों ने एक मोटर को रोक कर सवारी को नीचे उतरने के लिए कहा जैसे कि जनता सभी से कह रही थी। दैवयोग से मोटर में बैठे हुए साहब पुलिस के कप्तान थे। आप ने लड़कों की इस हरकत को इतना बुरा समझा कि आव देखा न ताव और सीटी बजा कर झट से पुलिस को बुला लिया। पुलिस ने आते ही डंडा बरसाना शुरू कर दिया। इस पर भीड़ बिखर गई, जिस के पश्चात् पुलिस ने दो आदमियों को गिरफ्तार कर के कोतवाली में पहुँचा दिया।

इधर यह हो रहा था, उधर रेल के स्टेशन पर घटनाओं का चक्र और भी अधिक तेजी से चल रहा था। दो-तीन स्वयंसेवक स्टेशन के दुकानदारों को दुकानें बन्द करने की प्रेरणा करने गए। दुकानदार दुकान बन्द करने को तैयार हो गए। इतने में ठेकेदार आ गया और उस ने हड़ताल करने से इन्कार कर दिया। इस समय स्टेशन पर काफी भीड़ इकट्ठी हो चुकी थी। उसे देख कर रेलवे पुलिस का सुपरिन्टेन्डेण्ट वहाँ आ कर लोगों को धमकाने लगा। इस पर दो-एक आदमियों ने जबाब दे दिया। साहब ने सीटी दे कर पुलिस इकट्ठी कर ली और दो आदमियों को गिरफ्तार कर के स्टेशन की हवालात में बन्द करा दिया। यह समाचार शहर में फैल गया कि स्टेशन पर दो स्वयं-सेवक पकड़े गए

हैं। थोड़ी देर में स्टेशन के सामने चार-पांच हजार आदमी इकट्ठे हो गए। लोगों ने पुलिस से कहा कि दोनों आदमी बेकसूर हैं, छोड़ दिए जाँय। पुलिस ने उत्तर दिया कि दोनों छोड़ दिए गए। इस पर लोगों ने आग्रह किया कि छोड़ दिए गए हैं तो दिखा दो। इधर यह बातचीत हो रही थी, उधर किले से मशीनगनों के साथ गोरों का रिसाला आ पहुँचा। हथियार बन्द पुलिस वहाँ पहले ही विद्यमान थी। डराने का यह सब सामान सामने खड़ा कर के भीड़ को हट जाने का हुक्म दिया गया। लोग डरे नहीं, जम कर खड़े रहे और यह कहते रहे कि हमारे दोनों आदमी दे दो, हम चले जाएंगे ? कहते हैं, एक चौदह साल का ब्रह्मचारी कूद कर मशीन गन पर चढ़ गया और लोगों को निर्भयता का उपदेश देने लगा। पुलिस के आदमियों ने उसे पकड़ कर नीचे उतारा। इस समय अकस्मात् सिपाहियों ने पहले भीड़ पर संगीनों का वार किया, फिर गोली चला दी।

संगीनों और गोलियों ने कितने लोगों को घायल किया इस के बारे में एक मत नहीं हो सका। दर्शकों की सम्मति थी कि सत्ताईस के लगभग आदमी घायल हुए, जिन में से दो वहीं मर गए। लाशों और घायलों को घसीट कर सिपाही कम्पनी बाग में ले गए। बाग को भीड़ से खाली करा कर उस के सब दरवाजे पुलिस ने बन्द कर दिए। इस कार्य ने

शहर में घायलों की दशा और संख्या के सम्बन्ध में तरह-तरह की अफवाहें फैलाने में बहुत सहायता दी। प्रसिद्ध हो गया कि बाग में सैकड़ों लाशें इकट्ठी हो गई हैं। स्टेशन की ओर से हटाए जा कर लोग चाँदनी-चौक में इकट्ठे हो गए और बाग के घण्टा-घर के सामने वाले द्वार पर जमा हो कर पुलिस से लाशों की माँग करने लगे। बाग के द्वार बन्द थे। बाहर भीड़ थी और अन्दर पुलिस। कहा-सुनी में पुलिस के आदमियों को तैश आ गया। पीछे से कहा गया कि लड़कों ने पुलिस के सिपाहियों पर पत्थर फैंके थे। सम्भव है किसी लड़के ने पत्थर फैंका भी हो। पुलिस ने दूसरी वार फिर गोली चला दी, जिस से कम-से-कम १० आदमी घायल हो गए। पुलिस यहाँ से भी घायलों को घसीट कर बाग में ले गई।

इस प्रकार भारत के इस नवीन अभ्युत्थान का श्रीगणेश रक्तपात से हुआ। सरकार की गोलियों से भारतीय प्रजा का रक्त बह कर मिश्रित हो गया। उस में हिन्दुओं का भी रक्त था और मुसलमानों का भी। कुर्बानी के उस अनूठे मिश्रण ने नगर में जागृति, जोश और एकता की एक ऐसी लहर उत्पन्न कर दी, जैसी इस सदियों बूढ़ी नगरी में इस से पूर्व शायद ही कभी दिखाई दी हो।

—

चौबीसवाँ परिच्छेद

संगीनों की नोक पर

जो सभा पीपल-पार्क में चार बजे से शुरू होने वाली थी, वह अढ़ाई बजे ही आरम्भ कर देनी पड़ी। पीपल-पार्क के शेष भाग में अभी धूप थी, इस कारण पत्थर वाले कुँए के पास बनारसी कृष्णा मैन्शन की छाया में लोग बैठे गये और वहीं सभा आरम्भ हुई। कुछ कविताएं पढ़ी गईं, जिन के पश्चात् पिता जी जनता को शान्ति का उपदेश देने के लिए खड़े हुए। उसी समय गोली चलने की आवाज सुनाई दी, और थोड़ी देर बाद घबराये हुए लोग भाग कर आये। उन से मालूम हुआ कि पुलिस ने घण्टाघर पर एकत्रित हुई जनता पर गोली चलादी है जिससे बहुत से व्यक्ति घायल हो गये हैं। इस समाचार से लोगों में हलचल सी मच गई और वे हिलने लगे। उन्हें समझा बुझा कर शान्त किया जा रहा था कि इतने में उत्तर दिशा से घुड़सवार सेना का एक दस्ता सभा की ओर बढ़ता दिखाई दिया। सन् ५७ की क्रांति के बाद शायद यह पहला अवसर था कि दिल्ली के निवासियों पर सेना चढ़ाई करती हुई दिखाई दी। जनता ने जिस धैर्य से उस दृश्य का सामना किया वह प्रशंसनीय था। लोग अपनी जगह पर बैठे प्रतीक्षा करने लगे कि आगे क्या होगा? सेना की टुकड़ी सभा

के पास आ कर रुक गई। उन के अफसर ने आगे बढ़ कर पूछा 'यहाँ क्या हो रहा है'? स्वामी जी उस समय व्याख्यान दे रहे थे। उन्होंने अफसर को अंगरेजी में समझाया कि 'यह सभा हो रही है और मैं लोगों को शान्त रहने का उपदेश दे रहा हूँ।' इस उत्तर से वह अफसर किंकर्तव्य-विमूढ़ सा हो गया और कुछ देर तक चुप रह कर बोला—'अच्छा, तो आप लोग अमन से जलसा करते रहिए, हम जाते हैं।' यह कह कर वह सिपाहियों को ले कर चला गया। सभा जारी रही।

लगभग साढ़े चार बजे मैदान में छाया काफी फैल गई थी। तब मंच बना कर खुली जगह में सभा जारी रखी गई। अभी पाँच ही बजे होंगे कि फौज ने दूसरी बार सभा का घेरा डाल दिया। इस बार सभा को लगभग चारों ओर से घेर लिया गया। एक ओर घुड़सवार सेना थी। किले की ओर सड़क पर कई मशीनगनें खड़ी थी और दो ओर से पुलिस ने नाकाबन्दी की हुई थी। पुलिस के आगे-आगे दिल्ली प्रान्त के चीफ कमिश्नर मि० बैरन, डिप्टी कमिश्नर मि० बीडन, सिटी मजिस्ट्रेट, कोतवाल आदि अधिकारियों की कतार लगी हुई थी। यद्यपि परिस्थिति काफी भयंकर थी, तो भी जनता हिली नहीं, अपनी जगह जमी रही। उस समय स्वामी जी मंच पर खड़े हो कर जनता को शान्त रहने का उपदेश दे रहे थे। चीफ कमिश्नर ने हाथ के इशारे से स्वामी

जी को अपने पास आने को कहा। पहले तो स्वामी जी ने चीफ कमिश्नर को उत्तर दिया कि 'मैं यहीं से सुन लूंगा और आप को जबाब दे दूँगा। आप को जो कुछ कहना है वहीं से कह दीजिए।' परन्तु जब चीफ कमिश्नर ने दो-तीन बार स्वामी जी को पास आने को कहा तब वे बाहर चले गये और चीफ कमिश्नर से बातें करने लगे। स्वामी जी ने चीफ कमिश्नर को बताया कि 'हम पुर-अमन सभा कर रहे हैं। मैं लोगों को शान्त रहने का उपदेश दे रहा हूं।' इस पर चीफ कमिश्नर ने स्वामी जी से पूछा कि आप लोग इन्हें भड़कायेंगे तो नहीं ? स्वामी जी ने उत्तर दिया—हम सत्याग्रही हैं, हम लोगों को शान्ति का उपदेश दे रहे हैं, आप को ऐसा सन्देह भी न करना चाहिए कि हम इन्हें भड़कायेंगे। चीफ कमिश्नर ने बात चीत के अन्त में स्वामी जी से कहा—मैं आप की जिम्मेवारी पर इस सभा को जारी रहने देता हूँ। स्वामी जी ने उत्तर दिया—मैं जिम्मेवारी लेने को तैयार हूँ, यदि पुलिस या सेना व्यर्थ में दखल दे कर लोगों को न भड़कायें। चीफ कमिश्नर यह कह कर दल-बल सहित सभा से चले गये कि जलसा शान्ति से कर लो; जल्से के बाद घरों को जाते हुए लोग कोई गड़बड़ न करेंगे तो पुलिस या मिलिटरी के लोग किसी प्रकार की दस्तअन्दाजी नहीं करेंगे।

सभा के किले का दूसरा घेरा उठ जाने के पश्चात् कार्यवाही

फिर जारी हो गई। मि० इवैब कुरैसी एम० ए० ने, जो अब पाकिस्तान में एक उच्च अधिकारी हैं, एक शानदार व्याख्यान दिया, जिस का अन्तिम भाग यह था—'ये हैवानी ताकतें हैं, आप इन से न डरें। खुदा आप के साथ है। जालिम जुल्म करें और आप सदाकत पर जमे रहें।'

इस सभा में पं० लक्ष्मीनारायण जी का भी भाषण हुआ। पंडित जी कट्टर सनातन-धर्मी थे और बहुत ही पुराने विचारों के प्रचारक समझे जाते थे। उन्हें राजनीतिक सभा में बोलते देख कर लोगों को बहुत आश्चर्य हुआ। मौलाना अहमद सईद और पण्डित लक्ष्मीनारायण जैसे कट्टर मजहबी आदमियों का राजनीति के मंच पर आ जाना भी उस जागृति का एक चमत्कार था।

जब उस दिन की सभा समाप्त हुई, तब आकाश में सन्ध्या का अंधेरा छा चुका था। शान्ति का उपदेश चार-पांच घण्टे तक सुन कर जनता अशान्ति के प्रभाव से निकल चुकी थी। दिन की घटनाओं से जो विक्षोभ उत्पन्न हुआ था, वह सत्याग्रह के सन्देश से कुछ शांत हो गया था। सभा-स्थान से आगे-आगे स्वामी जी चले और उन के पीछे 'भारत माता की जय' हिन्दू मुसलमान की जय' आदि नारे लगाती हुई जनता चली। वह लगभग बीस-पच्चीस हजार की भीड़, एक क्रम में बँध, कर फव्वारे से होती हुई घण्टाघर

की ओर जा रही थी और उन के पीछे-पीछे कई मशीनगनें और बहुत से घुड़सवार सिपाही, मानो पहरा देते जा रहे थे। मैं भी उस भीड़ की अगली श्रेणी में, स्वामी जी की दाईं ओर चल रहा था। इस से जो घटना घण्टा-घर पर हुई—वह मैंने पूरी तरह आँखों से देखी। बहुत से चित्रकारों और कवियों ने उस घटना के प्रतिभा-सम्पन्न चित्र खींचे हैं। मैं उस का यथासम्भव, यथार्थ वर्णन लिखता हूँ।

सारी घटना लगभग पाँच मिनट में समाप्त हो गई। जब जन-समुदाय घण्टाघर तक पहुंच गया, तब देखा कि कुछ आगे, कम्पनी बाग की ओर, गुरखा सिपाही लाइन बाँधे खड़े हैं। लोग नारे लगाने में मस्त थे और तेजी से आगे बढ़ते जा रहे थे। सिपाही भीड़ को अपनी ओर आता देख कर कुछ घबरा गये और तीन चार कदम पीछे हट कर अपनी बन्दूकों को ऐसे ढंग से सम्हालने लगे, जैसे गोली छोड़ने के समय सम्हालते हैं। उस समय उनका अफसर वहाँ नहीं था इस कारण वे किंकर्तव्य-विमूढ़ से हो रहे थे कि इतने में एक बन्दूक चल गई। सरकार का बयान था—वह Misfire था, अर्थात् गोली भूल से चल गई थी। यह सर्वथा सम्भव है कि गोली भूल से चल गई हो। लोग गोली की आवाज से विक्षुब्ध हो गये। स्वामी जी ने लोगों को वहीं ठहरने और खड़े रहने का आदेश दिया और स्वयं आगे बढ़ कर सिपाहियों की श्रेणी

के ठीक सामने जाकर खड़े हो गये। सिपाही आश्चर्यित थे कि अब क्या करें ?

स्वामी जी ने सिपाहियों से पूछा—'तुम ने गोली क्यों चलाई ?'

इस प्रश्न का कोई उत्तर न दे कर कई सिपाहियों ने अपनी बन्दूकों की संगीनें स्वामी जी की ओर बढ़ाते हुए कहा—'हट जाओ, नहीं तो हम छेद देंगे।' स्वामी जी एक कदम और बढ़ गये। अब संगीन की नोक स्वामी जी की छाती को छू रही थी। स्वामी जी ने बड़े ऊंचे स्वर से कहा—'मार दो।' और वहीं खड़े रहे।

यह दृश्य शायद मिनट भर रहा होगा। इतने में एक अंग्रेज़ अफसर घोड़ा भगाये हुए वहाँ आया। उसके आने पर सिपाहियों ने बन्दूकें नीची कर लीं। स्वामी जी ने अफसर से पूछा—'गोली क्यों चलाई गई ?'

अफसर ने बहुत अस्पष्ट शब्दों में उत्तर दिया—'It was only misfire'—गोली भूल से चल गई थी ! साथ ही उसने सिपाहियों को पीछे हट कर, भीड़ के लिये रास्ता छोड़ने का हुक्म दे दिया। सिपाही पीछे हट गये। जनता ने फिर अपना कोलाहलपूर्ण प्रयाण जारी रखा। यह जुलूस नये बाज़ार में श्रद्धानन्दबलिदान-भवन की इमारत तक गया।

स्वामी जी सीढ़ियों पर चढ़ गये और लोग अपने-अपने घरों को चले गये।

—

पच्चीसवाँ परिच्छेद

मस्जिद के मिम्बर पर

यह कहने में जरा-सी भी अत्युक्ति नहीं है कि ३० मार्च की घटनाओं ने केवल दिल्ली निवासियों में ही नहीं, प्रत्युत भारत के बहुत बड़े भाग में मानसिक क्रान्ति पैदा कर दी थी। उस दिन सायंकाल के समय जो भावना जनता में उत्पन्न हो गई थी, उसे देखते हुए हम कह सकते हैं कि उस दिन के बाद बारह घण्टों में जो परिवर्तन आया, सामान्य रूप से वह बारह वर्षो में भी न आता। कहावत है—लहू पानी की अपेक्षा गाढ़ा होता है। यह उस दिन देखने में आया। पुलिस और फौज की गोलियों ने जिन लोगों को घायल अथवा शहीद किया उन में हिन्दू भी थे और मुसलमान भी। दोनों का लहू बह कर मिल गया। इस रक्तमिश्रण ने चमत्कार कर दिखाया। ३१ मार्च के प्रातःकाल मानों हिन्दू-मुसलमानों का भेद मिट चुका था। 'हम' शब्द से 'ह' से 'हिन्दू' और 'म' मुसलमान का ग्रहण कर के एकता के बन्धन की घोषणा करने का

रिवाज उसी समय से चला है। ३१मार्च के प्रातःकाल ३०मार्च को गोली से आहत हुए एक मुसलमान का जनाज़ा निकला। दिल्ली निवासियों को अपने हृदय में भरे हुए रोष और जोश को प्रकाशित करने का अच्छा अवसर मिला। जनाजा जब घण्टाघर के पास पहुँचा, तब लगभग उस के साथ दो लाख की भीड़ थी। भीड़ में हिन्दू अधिक थे या मुसलमान, यह कहना कठिन है। जनाज़े के साथ स्वामी श्रद्धानन्द जी भी थे और हकीम अजमलखां भी। दिल्ली की इन दोनों विभूतियों का प्रथम साक्षात्कार जनाजे के जुलूस में ही हुआ।

अगले दिन सिविल हस्पताल से पांच शहीदों की लाशें मिलीं। उन में से दो मुसलमान थे और तीन हिन्दू। कुछ दूर तक पांचों अर्थियां साथ-साथ चलीं। उस समय अनुमान लगाया गया था कि उनके साथ कम-से-कम तीन लाख हिन्दू व मुसलमानों की भीड़ थी। चाँदनी-चौक से भीड़ दो हिस्सों में बंट गई। मुसलमानों का जनाजा ईदगाह की ओर चला गया और हिन्दुओं की अर्थियाँ यमुना जी की ओर। ईदगाह और निगमबोध घाट पर बेतहाशा भीड़ थी। दोनों जगह देशभक्ति और एकता पर व्याख्यान हो रहे थे।

इस जोश की चरम सीमा उस समय प्रकट हुई, जब ४ अप्रेल के दिन, दोपहर बाद की नमाज़ के पीछे जामा मस्जिद में मुसलमानों का एक विशाल जलसा हो रहा था और उस

में मौलाना अब्दुल्ला चूड़ी वाले ने आवाज दे कर कहा—'स्वामी श्रद्धानन्द जी की तकरीर भी होनी चाहिए।' 'नार—ए तकबीरसे मस्जिद गूंज उठी। दो-तीन जोशीले नौजवान उठे और तांगे पर जा कर नये बाजार से स्वामी जी को लिवा लाए। 'अल्ला-हो—अकबर' के नारों के साथ स्वामी जी मस्जिद की वेदी पर आरूढ़ हुए। शायद यह भारत के ही नहीं, इस्लाम के इतिहास में पहला अवसर था कि एक मुसलमानेतर व्यक्ति ने जुम्मा मस्जिद की वेदी पर से वाज किया। स्वामी जी ने ऋग्वेद के एक मन्त्र से अपना व्याख्यान आरम्भ किया और 'ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः' के साथ समाप्त किया। ६ अप्रैल को फतहपुरी मस्जिद में भी स्वामी जी का भाषण हुआ।

—

छब्बीसवाँ परिच्छेद

पंडित मोतीलाल नेहरू से भेंट

गत संस्मरण में बतला चुका हूं कि रौलट ऐक्ट सम्बन्धी सत्याग्रह आन्दोलन ने भारत की राजनीति में नये युग को जन्म दिया। नये युग का जन्म कोई साधारण बात नहीं। राष्ट्र और विशेष रूप से भारत जैसे पुराने आहिस्ता चलने

वाले राष्ट्र आसानी से करवट नहीं बदल सकते। उन की नींद तोड़ने के लिए बहुत बड़ा शोर, बहुत अधिक झकझोरे और कभी-कभी नुकीले औजारों की नोक-झोंक तक आवश्यक होती है। भारत जैसे पराधीन देश की नींद को तोड़ना और उस की राजनीतिक करवट को बदलना भी बहुत बड़े प्रयत्न का काम था, जिसे शक्तिशाली ब्रिटिश सरकार के सिवा कोई नहीं कर सकता था। इतिहास पुकार-पुकार कर कहेगा कि १९१९ में जो राजनैतिक युग में परिवर्तन हुआ उस का श्रेय सब से अधिक उस की अंग्रेजी सरकार के गधेपन को है। गधेपन से मेरा अभिप्राय यह है कि उस समय सरकार को जो कुछ करना चाहिए था वह उस ने नहीं किया, और किया भी तो तब किया, जब चिड़ियां खेत को चुग चुकी थीं, और जो नहीं करना चाहिए था, वह बड़ी फुर्ती से फौरन से पेश्तर कर दिखाया। अत्याचारी की भूलों से ही अत्याचार पीड़ितों का उद्धार हुआ करता है। उस समय की अंग्रेजी और भारतीय सरकार एक बार ठीक रास्ते से चूक कर ऐसी बौखलाई कि कि हर कदम पर चूकती चली गई, जैसे कुतुबखाने की उपरली सीढ़ी से फिसलना आरम्भ कर के हुमायूं सब से निचली मौत की मँजिल तक फिसलता चला गया था। उसी प्रकार सरकार भी एक बार मार्ग भ्रष्ट हो कर तब तक ठीक मार्ग पर नहीं आई, जब तक भारत ने करवट नहीं बदली।

रौलट एक्ट के विरोध में महात्मा गान्धी ने सत्याग्रह की घोषणा कर दी। प्रारम्भिक कदम के तौर पर जो देश व्यापी हड़ताल हुई, भिन्न-भिन्न प्रान्तों की सरकारों ने उस पर अपने-अपने ढंग से प्रहार किया। पंजाब के गवर्नर सर माइकल ओड़वायर की सरकार ने सत्याग्रह पर लाठी और गोली से प्रहार किया, जिस का उग्र रूप जलियाँवाला बाग के हत्या-कांड और मार्शल ला के आकार में प्रकट हुआ। ब्रिटिश टाइगर अपने असली नग्न रूप में संसार के सामने आ गया। पंजाब पर ऐसे अत्याचार हुए, जैसे इतिहास में पढ़े थे, परन्तु कभी विश्वास नहीं किया था और समझा था कि यह केवल अतिशयोक्ति मात्र है। कुछ समय तक तो पंजाब के सम्बन्ध में फाँसी घर की सी निस्तब्धता बनी रही। प्रान्त पर सैन्सर शिप का पर्दा डाल कर मार्शल ला के नाम पर जो भीषण अन्याय किये गये उन का देश को और संसार को तब पता चला, जब लोकमत से प्रभावित हो कर सरकार को सैन्सर-शिप का प्रतिबन्ध हटा लेना पड़ा। पर्दे के हटने पर संसार ने देखा कि सभ्यताभिमानी ब्रिटेन के प्रतिनिधियों ने पंजाब में जो राक्षसी लीला की है, उस ने नीरो और चंगेजखां की स्मृतियों को भी मात कर दिया है। देश-भर में हा-हाकार सा मच गया। पंजाब की दशा को देखने और उस के आघातों पर मरहम लगाने के लिए देश के हर एक प्रान्त से देशभक्त

पंजाब के लिए रवाना होने लगे। उन देश भक्तों में से विशेष रूप से स्मरणीय देशबन्धु चिरञ्जनदास, पंडित मोतीलाल नेहरू, स्वामी श्रद्धानन्द जी और पंडित मदनमोहन मालवीय जी थे। पहले दोनों महानुभाव मार्शल-ला की तहकीकात के सम्बन्ध में और शेष दोनों महानुभाव मार्शल-ला द्वारा आहतों और पीड़ितों को सहायता के लिए पंजाब पहुँचे। इस प्रसंग में इन तथा इनके अन्य सहायक देश भक्तों ने जो अनुपम सेवाएं कीं, उन के विस्तार से लिखने का यह स्थान नहीं है। वे सेवाएं भारत के राजनैतिक इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखी जा चुकी हैं। मैंने तो यह चित्रपट इस लिए सामने रखा है कि मैं तत्सम्बन्धी उस चित्र को अंकित कर सकूं, जो मेरी स्मृति में खूब उज्ज्वल रूप से विद्यमान है।

पिता जी के पास पंडित मोतीलाल नेहरू का इस आशय का पत्र आया कि मैं मार्शल ला की घटनाओं की तहकीकाती कमेटी में भाग लेने के लिये लाहोर जा रहा हूं। आप पंजाब में सेवा का कार्य कर के अभी आये हैं। इलाहाबाद से लाहोर जाता हुआ दिल्ली में आप से मिल कर जाऊँगा। पत्र में अपने दिल्ली पहुँचने की तारीख और पिता जी के निवास स्थान पर पहुंचने का निश्चित समय भी दिया हुआ था। निश्चित और विधिपूर्वक कार्य करने की यह प्रवृत्ति पूज्य नेहरू जी के

चरित्र का एक अंग थी।

मुझे नेहरू जी के समीप दर्शनों की बड़ी लालसा थी। उन्हें एक बार पटना की कांग्रेस में दूर से देखा था। तब आप माडरेट (नरम) विचारों के धनी नेता समझे जाते थे। उस समय मैंने नेहरू परिवार को इलाहाबाद से रेल द्वारा पटना जाते हुए देखा था। पहले दर्जे का पूरा डिब्बा रिज़र्व कराया गया था। पूरे विलायती वेश में दोनों नेहरू—पिता और पुत्र—जब प्लेट फार्म पर पहुंचे, तो स्टेशन पर काफी सनसनी सी फैल गई थी। नेहरू जी के धन और आनन्द भवन की ख्याति चारों ओर फैल चुकी थी। यह भी चर्चा पूरे जोर पर थी कि उनके लड़के विलायत से बैरिस्टर बन कर आये हैं, ये भी हाईकोर्ट में प्रैक्टिस करेंगे। दोनों नेहरुओं के साथ अन्य भी दो तीन व्यक्ति थे, जो रूप रङ्ग और वेष भूषा से नेहरू परिवार के ही सदस्य माने जा रहे थे। वह नेहरू परिवार का ठाठ था, जिसे साधारण जनता उत्सुकता से देख रही थी।

उसके पश्चात् यह पहला अवसर था, जब मुझे नेहरू जी के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त करने की आशा हुई। मैंने पिता जी से निवेदन किया कि मैं नेहरू जी के आप के स्थान पर आने के समय कुछ देर के लिए उपस्थित रहना चाहता हूं और आपकी बातचीत आरम्भ हो जाने पर चला जाऊँगा। पिता जी ने स्वीकार कर लिया।

वह दृश्य मुझे पूरी तरह याद है। प्रातःकाल के दस बजे का समय होगा, जब पण्डित जी पिता जी के निवास स्थान पर पहुंचे। जब वे सीढियों से ऊपर पहुंचे तो उनके रूप की पहली झांकी दिखाई दी। अभी वे कोट-पैण्ट और हैट के वेश से निकले नहीं थे। शानदार सफेद मूंछें, उनके सुन्दर कश्मीरी चेहरे पर खूब सज रही थीं, और उनकी शान को बढ़ा रही थीं। पिता जी उनका स्वागत करने के लिए कमरे से बाहर आये। उस समय जो परिस्थिति उत्पन्न हुई, वह वस्तुतः बहुत ही मनोरंजक थी। इस में थोड़ा अभिनय का सा रंग भी आ गया था। पिता जी ने बाहर आकर पंडित जी पर नजर पड़ते ही आश्चर्य से कहा—'हैं, तुम हो' पंडित जी ने भी पिता जी की तरफ ध्यान देखकर कहा—'अरे तुम हो' मैं आश्चर्य में आ गया। दोनों ने खूब कस कर हाथ मिलाये। पिता जी ने कहा—'मैं अब तक नहीं जानता था कि पंडित मोतीलाल नेहरू तुम ही हो।' पंडित जी ने उत्तर दिया कि 'मैं भी अब तक नहीं समझता था कि महात्मा मुन्शीराम और स्वामी श्रद्धानन्द तुम ही हो।' इस के पीछे थोड़ी देर के लिए दोनों बुजुर्ग अपनी आयु, ऊँची परिस्थिति और शायद मेरी उपस्थिति को भूल गये, और पुराने कालेज के समय में वापिस चले गये। एक ने दूसरे से कहा—तुम तब भी बहुत नटखट थे। दूसरे ने उत्तर दिया—तुम्हारी तब भी यही आदत थी।

किस ने किस से क्या कहा यह याद नहीं रहा, सारी बातचीत से थोड़ी देर में मेरी समझ में आ गया कि कालेज में पढ़ने के समय दोनों बुजुर्ग इलाहाबाद में सहपाठी थे, दोनों सैलानी तबीयत के थे और किताबों के कीड़े नहीं थे।

इतना परिचय प्राप्त कर के और दर्शनों से सन्तुष्ट हो कर मैं चुपके से वहाँ से उठ गया। दोनों में लगभग दो तीन घण्टे तक बातचीत होती रही।

—

सत्ताईसवाँ परिच्छेद

अमृतसर में नये युग का जन्म

१९१९ के अन्त में अमृतसर में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ उस ने देश की राजनीति में युग परिवर्तन कर दिया था। उन चार पांच दिनों में भारत में तिलक युग का अन्त और गांधी युग का आरम्भ हुआ। मैं इसे अपना सौभाग्य समझता हूँ कि मुझे उस युग परिवर्तन के महान् दृश्य को साक्षात् देखने का अवसर मिला। मैंने वहां जो कुछ देखा उसे यथा-संभव ठीक-ठीक अंकित करने का यत्न करता हूँ।

काँग्रेस का वह अधिवेशन बड़ा महत्वपूर्ण था। वह अधिवेशन उस समय किया गया था जब पंजाब के वक्षःस्थल

पर मार्शल ला की संगीनों द्वारा किये हुए घाव हरे थे, और जनरल डायर के हुक्म से जलियाँवाला बाग में चलाई गई बन्दूकों की प्रतिध्वनि अभी शान्त नहीं हुई थी। उस समय देश के तीव्र विक्षोभ और क्रोध को प्रकट करने के लिए अमृतसर में राष्ट्रीय महासभा का बृहद् अधिवेशन बुलाया गया था। उसके स्वागताध्यक्ष और सभापति क्रमशः युवाकाल के पुराने सहपाठी स्वामी श्रद्धानन्द जी और पंडित मोतीलाल जी नेहरू नियुक्त हुए थे। जब यह निश्चय किया गया कि कांग्रेस का अधिवेशन अमृतसर में हो, तब सब से महत्वपूर्ण प्रश्न यह खड़ा हुआ कि उस के प्रबन्ध की जिम्मेवारी कौन ले। समय की कमी और कार्य की कठिनाइयों को देख कर काँग्रेस के अन्य कार्यकर्ता घबरा रहे थे। अन्त में स्वामी जी के पास दिल्ली में एक संदेश भेज कर यह पूछा गया क्या आप इस भारी उत्तरदायित्व को वे उठा सकेंगे ? स्वामी जी ने अपनी प्रकृति के अनुसार तत्काल उत्तर दिया कि यदि यह उत्तरदायित्व मुझ पर डाला जायगा तो मैं उसे अवश्य उठा लूंगा।

मार्शल ला की सब घटनाओं की जिस कमेटी ने छानबीन की थी, पंडित मोतीलाल जी उसके अध्यक्ष थे। कानूनी और नैतिक योग्यता की दृष्टि से उन से बढ़िया अध्यक्ष मिलना कठिन था। इस कारण वह बृहद् अधिवेशन के सभापति निर्वाचित किये गये।

मैं अधिवेशन से कई दिन पूर्व ही अमृतसर पहुंच गया था, जिस से मुझे वहाँ की घटनाओं को आदि से अन्त तक देखने का अवसर मिला। भारत के प्रत्येक कोने से प्रतिनिधियों का आगमन कई सप्ताह पहले से ही आरम्भ हो गया था। मद्रास और आसाम जैसे दूरवर्ती प्रान्तों से पंजाब की दशा को आँखों से देखने और सहानुभूति प्रकट करने के लिए देश के प्रतिनिधि बड़ी उत्सुकता से अमृतसर आ रहे थे। उन में से कुछ प्रमुख व्यक्तियों को मैंने पहली बार देखा था। उन के प्रथम दर्शन के समय मेरे मन पर जो प्रभाव पड़ा वह मैं स्मृति के कोष में से निकाल कर यहाँ रखने का यत्न करता हूँ। देश बन्धु चितरञ्जनदास के मैंने वहाँ प्रथम वार दर्शन किये। मैं स्वागत का प्रबन्ध कार्य कर रहा था। दिसम्बर का महीना था। आकाश में बादल घिर रहे थे और ठन्डी-ठन्डी डर पैदा करने वाली हवा चल रही थी। बेचारे मद्रास, बंगाल और गुजरात जैसे समशीतोष्ण प्रान्तों के प्रतिनिधि बड़ी मुसीबत में पड़ गये थे। सर्दी से बचाने के लिए उन्हें धर्मशालाओं और पक्के मकानों में ठहराया गया था, तो भी वे सर्दी से परेशान थे। उन के पास जब भी स्वयंसेवक जाते तब यही शिकायती वाक्य सुनाई देता 'यहाँ तो बड़ा शीत है'। ऐसे वातावरण में हम लोग प्रातःकाल नौ बजे के लगभग बंगाल के प्रतिनिधियों के डेरों पर गये। यह समाचार मिल चुका था कि बंगाल से

दास बाबू आये हैं। मैं बड़ी उत्सुकता से उस कमरे में पहुँचा जिस में कुछ अन्य प्रतिनिधियों के साथ दास बाबू ठहरे हुए थे। वहाँ जाकर जो दृश्य देखा वह इस प्रकार था—कमरे में कोई सात आठ पलंग बिछे हुए थे, जिन पर सब लोग कम्बल, लोई, रजाई आदि सब प्राप्तव्य कपड़ों में लिपटे हुए बैठे थे। दास बाबू उन के केन्द्र बने हुए थे। उन के पलंग के पास एक बड़ा पेचवान हुक्का रखा हुआ था, जिस की नली उन के मुंह में थी। अन्य बंगाली प्रतिनिधि भी हुक्के या सिगार से अपने शरीर को गर्म कर रहे थे। उधर कमरे में घुसते ही प्रतीत हो गया कि किसी गहरे विषय पर बंगाली जोश-खरोश के साथ बहस हो रही है, 'जिस से कमरा आग के धुएं और शब्दों के धारा-प्रवाह से लबालब भरा हुआ था। अन्दर जाने पर शीघ्र ही मालूम हो गया कि दास बाबू के विधिपूर्वक सभापतित्व में बंगाल के कुछ प्रतिनिधि कांग्रेस के सामने आने वाले मुख्य प्रस्ताव पर बहस कर रहे थे। देशबन्धु दास के पास श्रीयुत विपिनचन्द्र पाल भी बैठे हुए थे। उस समय की बातचीत से हम इस परिणाम पर पहुंचे कि दास महोदय कांग्रेस में आने वाले प्रस्ताव और उस पर पेश होने वाले संशोधन के ठंडेपन से बहुत असंतुष्ट थे। वे उसे माडरेट, दब्बू आदि विशेषणों से विभूषित कर रहे थे। उनका विशाल चेहरा, उस से भी विशाल माथा और हर बात में प्रकट होने वाली प्रतिभा उन्हें अनायास

ही बंगाल के प्रतिनिधियों का नेता बना रही थी। इसके पश्चात् भी मुझे उस महापुरुष के दर्शनों का कई बार सौभाग्य मिला। मुझ पर उन के व्यक्तित्व की विशालता का जो पहला प्रभाव पड़ा वह बढ़ता ही गया। अमृतसर में मुझे पहली और अन्तिम बार मद्रास के प्रसिद्ध दैनिक—हिन्दू—के संपादक श्री कस्तूरीरंगा आयंगर को देखने का अवसर मिला। वे पूरे कांग्रेसी नहीं थे, इस का अभिप्राय यह है कि वे क्रियात्मक रूप से कांग्रेस के प्रत्येक निश्चय से अपने को बँधा हुआ नहीं मानते थे। वे एक आदर्श पत्रकार थे। सम्मति बनाने और उस के प्रकट करने में अपने को सर्वथा स्वतन्त्र रखते थे। साथ ही यह सर्वसम्मत बात है कि उन का दृष्टिकोण पूरी तरह राष्ट्रीय था। वे एक सम्पादक की हैसियत से मार्शल ला सम्बन्धी सीधा अध्ययन करने और कांग्रेस की प्रगति का स्वयं निरीक्षण करने के लिए अमृतसर पहुँचे थे। उन से मुझे पत्रकार कला के सम्बन्ध में बहुत गहरी प्रेरणा मिली।

इस अधिवेशन में देशवासियों ने पहली बार सार्वजनिक रूप से पूरे नेहरू परिवार को देखा। कांग्रेस के मंच पर श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू, श्रीमती कमला नेहरू, कुमारी विजयलक्ष्मी नेहरू, कुमारी कृष्णा नेहरू पर दृष्टि पड़ते ही प्रत्येक दर्शक पूछने के लिए बाधित हो रहा था—यह कौनसा राज परिवार आया है। विशुद्ध काश्मीरी रूप-रंग, राजसी वेशभूषा

और नेहरू परिवार की स्वाभाविक शान ने उस समय उस परिवार को सम्पूर्ण पंडाल की दृष्टियों का केन्द्र सा बना लिया था।

अब मैं उस महान् राष्ट्रीय रंगमंच के प्रधान पात्रों—लोकमान्य तिलक और महात्मा गान्धी की ओर आता हूँ। अमृतसर की कांग्रेस में ये दोनों महान् व्यक्ति अपनी पूरी कलाओं के साथ आये थे। भेद इतना ही था कि लोकमान्य तिलक अपनी आयु की पूर्णिमा को पार कर चुके थे और महात्मा गान्धी पूर्णिमा की ओर प्रयाण कर रहे थे। दोनों भारत के भाग्य विधाता व्यक्तियों में जो मतभेद था उसे सब विवेकशील लोग जानते थे। यूं तो दोनों ही आदर्शवाद के पुजारी थे, परन्तु जहां लोकमान्य तिलक अपने आदर्श की प्राप्ति में व्यावहारिक नीति के प्रयोग को उचित मानते थे, वहां महात्मा गान्धी इस दावे के साथ राजनीति के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए थे, कि वे भारत की स्वाधीनता के ऊंचे आदर्श को सत्य और अहिंसा के धार्मिक आदर्शों द्वारा प्राप्त करने का मार्ग बतलायेंगे।

अमृतसर की कांगेस से पूर्व प्रतीत होता था कि पंजाब के सम्बन्ध में सारा देश एकमत हो जायगा। परन्तु अधिवेशन से दो दिन पूर्व जब प्रतिनिधि लोग अपने-अपने स्थानों से अमृतसर के लिए रेल द्वारा रवाना हो चुके थे, तब ब्रिटिश सरकार

ने सम्राट् के वक्तव्य के रूप में फूट का एक बीज राजनैतिक क्षेत्र में फेंक दिया। यह साम्राज्यवादी सरकारों का पुराना हथकण्डा है। इस घोषणा में वे सुन्दर वायदे दोहराये गए थे जो पिछली सदी से इङ्गलैंड के बादशाह हिन्दुस्तानियों से करते रहे और जिन के आधार पर हिन्दुस्तान में वह मुहावरा-सा बन गया है कि वायदे तोड़ने के लिए ही किए जाते हैं। घोषणापत्र में भारतवासियों को विश्वास दिलाया गया था कि सम्राट् उन्हें स्वराज्य देना चाहते हैं, पर देंगे धीरे-धीरे। स्वराज्य की पहली किश्त के तौर पर मार्शल ला के कुछ एक कैदी जेल से छोड़ देने की सूचना भी सरकार की ओर से सम्राट् की घोषणा के साथ ही दे दी गई। कांग्रेस के घर में विचारों की फूट पैदा करने के लिए सरकार का यह हथकण्डा सफल सिद्ध हुआ। कांग्रेस तीन भागों में विभक्त हो गई। सम्राट् की घोषणा का महात्मा गान्धी पर यह असर हुआ कि वे उस घोषणा का स्वागत करने और सरकार से सहयोग करने के लिए उद्यत हो गये। लोकमान्य तिलक ने रेल में जो वक्तव्य दिया उस में प्रतियोगी सहयोग (रिस्पेन्सिव कोओपरेशन) का समर्थन किया। उन का पक्ष यह था कि सरकार सहयोग का जितना हाथ बढ़ाये उतना ही हम भी बढ़ावें। तीसरा दल उन लोगों का था जो सम्राट् की घोषणा को केवल एक धोखा समझते थे, और उस के आधार पर

सरकार के प्रति अपने असन्तोष को कम नहीं करना चाहते थे, और न ही विरोधी रुख को बदलना चाहते थे। उस दल के नेता देशबन्धु दास थे।

अमृतसर में नेताओं के पहुँचने पर मुख्य प्रस्ताव के सम्बन्ध में मतभेदों की चर्चा ने शीघ्र ही उग्र रूप धारण कर लिया। तीन केन्द्रों में तेजी से मोर्चा बन्दी शुरू हो गई, बीच बचाव करने के लिए जो व्यक्ति कार्य कर रहे थे उन में तीन प्रमुख थे। श्रीमती एनीबीसेन्ट, पंडित मदनमोहन मालवीय और स्वागताध्यक्ष की हैसियत से पिता जी।

—

अट्ठाईसवाँ परिच्छेद

लोकमान्य तिलक का जलूस और गान्धी युग का जन्म

तीनों में से कौन सा पक्ष जीतेगा, प्रारम्भ में यह बात संदिग्ध सी मालूम होती थी, परन्तु कांग्रेस अधिवेशन से एक दो दिन पूर्व जब अमृतसर के बाजारों में लोकमान्य तिलक का जलूस निकला तब कम से कम मेरे मन में कोई सन्देह बाकी न

रहा। मैंने जलूस तो सैंकड़ों देखे परन्तु उतना असली जोश और जीवित उत्साह मुझे शायद ही किसी में मिला हो। लगभग चालीस वर्ष के बलिदानमय जीवन ने तिलक महाराज का, भारतवासियों के हृदय में वह स्थान बना दिया था जो पुराने देवी देवताओं का बन जाया करता है। बहुत से पंजाबियों ने इस से पूर्व लोकमान्य तिलक के दर्शन भी न किए थे। वे यह तो जानते थे कि तिलक नाम का एक स्वाधीनता का देवता है, जिस की पूजा करनी चाहिए। उन्हें दर्शनों का पहला अवसर मिला था। पूजा का यह दुर्लभ अवसर पा कर उन के वर्षों से भरे हुए अरमान फूट पड़े थे। बाजारों में नरमुण्ड ही नरमुण्ड दिखाई देते थे। हरेक व्यक्ति तिलक महाराज की जय, के नारों से आकाश फोड़ रहा था। पंडित नेकीराम जी शर्मा को उस जलूस में मैंने पहली बार देखा। ऐसा याद आता है—पंडित जी तिलक महाराज की गाड़ी पर किसी जगह खड़े हो कर अपने मेघ गम्भीर स्वर से तिलक महाराज की जय के नारे स्वयं लगा रहे थे, और जनता से लगवा रहे थे। उस जलूस ने कांग्रेस के अन्य सब कार्यक्रम को मात दे दी थी। उस समय मेरे और मुझ जैसे सैंकड़ों दर्शकों को यह निश्चय सा हो गया था कि कांग्रेस के अधिवेशन में तिलक महाराज के सामने कोई नेता न ठहर सकेगा। जो प्रस्ताव वे पेश करेंगे वही स्वीकार किया

जायगा ।

लोकमान्य तिलक के उस जलूस की अनेक स्मरणीय चीजों में से एक विशेष चीज स्वयं लोकमान्य की गम्भीर मुद्रा थी, जो प्रत्येक बारीकी से देखने वाले दर्शक पर प्रभाव उत्पन्न करती थी । चारों ओर कोलाहल का तूफान उमड़ रहा था । फूलों और मालाओं से गाड़ी भर गई थी । स्थान-स्थान पर गाड़ी रोक कर आरती की जा रही थी और भक्त लोग तरह-तरह की भेंट दे कर भक्ति का प्रदर्शन कर रहे थे । चारों ओर यह सब कुछ था परन्तु लोकमान्य तिलक की मूर्ति मानों निश्चल हो कर बैठी थी । जनता के कोलाहल से उनके चेहरे पर न विक्षोभ की झलक दिखाई देती थी और जनता के सत्कार प्रदर्शन से होठों पर न मुस्कराहट दौड़ती थी । उन के गम्भीर तेजस्वी नेत्र और स्थिर निश्चल होंठ न तूफान में हिलते थे और न प्रभात के पवन से खिलते थे । उन में मातृभूमि की पराधीनता की भावना मानों फौलाद बन कर बैठ गई थी । जब उन्हें मांडले के जेल में अपनी जीवन संगिनी पत्नी की मृत्यु का समाचार मिला तब उन के आँसू नहीं निकले, इस पर उन से किसी ने पूछा—'ऐसे दुखद समाचार से आपके आँसू क्यों नहीं निकले ?' इस प्रश्न का लोकमान्य ने चिरस्मरणीय उत्तर दिया था—'मेरे पास बहाने के लिए कोई आँसू नहीं बचे, मैं उन सब को अपनी

मातृभूमि के लिए बहा चुका हूँ'। प्रतीत होता है वे आंसू अपने साथ होठों की मुस्कराहट को भी बहा ले गएथे। सार्वजनिक रूप में तिलक महाराज के पास न आंसू थे और न मुस्कराहट। वहां थी केवल कठोर कर्तव्य की भावना, जिस का पालन करने में वे कभी एक क्षण के लिये भी नहीं हिचकिचाये। लोकमान्य तिलक का चेहरा एक क्राँतिकारी का आदर्श चेहरा था। वहां प्रिय अप्रिय की कोई भावना नही थी। केवल धर्म के पालन की दृढ़ प्रतिज्ञा थी। कांग्रेस के मंच पर वैसा दृढ़ क्रान्तिकारी चेहरा न उन दिनों दिखाई देता था, और न अब तक दिखाई दिया है। उस की थोड़ी सी झलक सरदार वल्लभभाई पटेल के चेहरे पर दिखाई देती थी।

मैं इस से पूर्व बतला आया हूँ कि कांग्रेस के मुख्य प्रस्ताव के सम्बन्ध में नेताओं के तीन मत थे। गर्म दल—जिस के नेता श्री विपिनचन्द्र और श्री चितरंजनदास समझे जाते थे—इस पक्ष में थे कि सम्राट् की घोषणा की उपेक्षा की जाय और सरकार के अत्याचारों की उसी प्रकार निन्दा की जाय जैसे उस घोषणा के अभाव में की जाती। महात्मा गांधी चाहते थे कि सम्राट् की घोषणा में सरकार की बदली हुई नीति का स्वागत किया जाय और साथ ही सरकार के किए हुए दमन की निन्दा की जाय। महात्मा जी कांग्रेस में इस भावना को लाना चाहते थे कि शत्रु के साथ भी उदारता का व्यवहार

करना चाहिए। लोकमान्य तिलक का मत दोनों के मध्य में था। वे नहीं चाहते थे कि सम्राट् की घोषणा या मार्शलला के कुछ कैदियों की रिहाई पर कोई स्वागत या हर्ष का सूचक कोई प्रस्ताव स्वीकार किया जाय। उन का कहना था कि यह तो सरकार की चाल है इस में कोई सार नहीं है। "वह जैसे को तैसा" इस सिद्धान्त को मानने वाले थे। उस का नाम उन्होंने "प्रतियोगी-सहयोग" रखा था।

प्रारम्भ के दो-तीन दिनो तक मध्यस्थों द्वारा यह यत्न होता रहा कि कोई सर्वसम्मत प्रस्ताव बन जाय परन्तु सब अपनी-अपनी बात पर अड़े हुये थे, इस कारण सफलता नहीं हो रही थी। इसी बीच में प्रकृति ने उग्र रूप धारण कर के मानवीय वातावरण की गर्मी पर ठंडा पानी डाल दिया। बड़े जोर के बादल घिर आये और वस्तुतः मूसलधार वर्षा हुई। खुले अधिवेशन के लिए जो पण्डाल बना था उस में ठीक अधिवेशन से पहली रात के समय कमर-कमर तक पानी भर गया था। पंजाब की भूमि और कई दिन तक निरन्तर वर्षा—पंजाब से बाहर के लोगों के लिए मौसम असह्य हो गया, कम्बल और अंगीठी की पूरी सहायता होने पर भी बेचारे प्रतिनिधियों के दांत बजते थे। इस उग्र सर्दी के कारण अधिवेशन भी एक-दो दिन के लिए रोक देना पड़ा। इतने समय में मतभेदों की गर्मी काफी शांत हो गई और जब अन्त में गीले पंडाल में चटाइयों

पर बैठ कर देश के प्रतिनिधियों ने मुख्य प्रस्ताव पर विचार आरम्भ किया तो उन्हें यह देख कर हर्ष हुआ कि नेताओं का मतभेद प्रकाशित तो हुआ परन्तु बहुत नरम रूप में और वह भी शीघ्र ही मिट गया। कांग्रेस ने जो प्रस्ताव स्वीकार किया उसमें सम्राट् की घोषणा का स्वागत किया गया था और साथ ही पंजाब पर हुए अत्याचारों की निन्दा की गई थी। उस प्रस्ताव को लोकमान्य तिलक और महात्मा गान्धी के विचारों का समझौता कह सकते हैं।

मैंने पहले बतलाया है कि जनता और प्रतिनिधियों में लोकमान्य तिलक के व्यक्तित्व का प्रभाव अमृतसर में सब से अधिक प्रतीत होता था। ऐसा समझा जाता था कि यदि वे अन्त तक अपनी बात पर अड़े रहते तो जीत उन्हीं की होती। यह सर्वसम्मत बात थी कि लोकमान्य तिलक अड़ने वाले आदमी थे। जीवन भर उन्हों ने विरोधी शक्तियों का सीधे खड़े हो कर मुकाबला किया, कभी अणुमात्र भी झुकने का नाम नहीं लिया। अमृतसर में पहली बार वे समझौते के लिये तैयार हो गये। यह देख कर लोकमान्य के कुछ शिष्यों को दुख और आश्चर्य हुआ। वे लोग तिलक महाराज की सेवा में पहुंचे और जिज्ञासा की कि महाराज आप समझौता क्यों करते हैं खुले अधिवेशन में आपकी जीत निश्चित है। इस जिज्ञासा का लोकमान्य ने जो उत्तर दिया उसके पूरे शब्द तो मुझे याद नहीं

परन्तु अभिप्राय मेरे हृदय पर बड़ी स्पष्टता से अंकित है । आपने जो कुछ कहा उसका अभिप्राय यह था—मैं अब शारीरिक दृष्टि से वृद्ध हो गया हूं। मुझे जो कुछ कहना था वह कह चुका हूं । अब आवश्यक है कि देश का नेतृत्व दूसरे हाथों में जाय । वह व्यक्ति जिसके हाथों में मुझे नेतृत्व सम्भालने की शक्ति दिखाई देती है, वह गान्धी है । इसी कारण मैंने गान्धी का संशोधन स्वीकार कर लिया है। देश की बागडोर अब उसी के हाथ में जायगी ।"

उस समय लोकमान्य तिलक के उस कथन से उनके भक्तों का पूरा सन्तोष नहीं हुआ था। परन्तु समय ने बतलाया कि लोकमान्य तिलक को उनके भक्त जितना बड़ा समझते थे, वे उससे बहुत बड़े थे। वे महान् भी थे और भविष्यदर्शी भी। जब खुले पंडाल में लोकमान्य के तथा महात्मा जी के भाषणों के पश्चात् प्रस्ताव स्वीकार हुआ तब सारा पंडाल महात्मा गांधी की जय के नारों से गूंज उठा । उस जयनाद के कोलहाल में काँग्रेस का एक युग समाप्त हो रहा था और दूसरा युग जन्म ले रहा था। तिलक युग पर विराम चिन्ह लग रहा था और गान्धी युग प्रारम्भ हो रहा था।

—

उनत्तीसवाँ परिच्छेद

गांधी जी डिक्टेटर बने

इस पुस्तक के पाठकों को यह पता चल चुका होगा कि मैं यहां न औरों का इतिहास लिख रहा हूं और न अपना जीवन चरित्र। मैं उन घटनाओं और व्यक्तियों के चित्रों को अंकित करने का यत्न कर रहा हूं, जिनकी पृष्ठभूमि में, मेरे पिता जी का न्यूनाधिक सम्पर्क विद्यमान हो। १९२० से १९२३ तक का समय मेरे जीवन का घटनापूर्ण समय कहा जा सकता है, क्योंकि उस ने मेरे जीवन-प्रवाह की दिशा को निश्चित किया। परन्तु मैं उन वर्षों की घटनाओं में से कुछ थोड़ी सी ऐसी घटनाओं का ही वर्णन करूंगा, जिन्होंने मेरे हृदय को विशेष रूप से प्रभावित किया और अपने रंग से रंजित किया।

१९२० और १९२१ के वर्ष सत्याग्रह आंदोलन की तैयारी के वर्ष थे। वह आंदोलन क्या रूप धारण करेगा, १९१९ के प्रारम्भ में शायद महात्मा गांधी जी को भी इस का पूर्णरूप से पता नहीं था। अमृतसर की कांग्रेस में सरकार की ओर से भारतवासियों की इच्छाओं के प्रति सहानुभूति का जो इशारा किया गया था, उस के बारे में कांँग्रेस में मतभेद की बात मैं पहले कह आया हूं। महात्मा जी को उस में आशा की झलक दिखाई देती थी, परन्तु लोकमान्य तिलक और देशबन्धु

और उन के नेतृत्व में कांग्रेस ने मुसलमानों के खिलाफत आंदोलन का समर्थन किया, जिस का परिणाम यह हुआ कि सरकार से कांग्रेस की जो मांग तब तक केवल पंजाब की शिकायतों के निवारण तक परिमित थी, उस में खिलाफत भी जोड़ दी गई। इस आधार पर मुसलमान समूह रूप से कांग्रेस में शामिल होने लगे। हिन्दू मुसलमानों के इस मेल ने असहयोग आंदोलन को असाधारण बल प्रदान कर दिया। यदि यह घटनाचक्र इस प्रकार न चलता तो शायद कांग्रेस पर और देश की राजनीति पर महात्मा जी का पूरा अधिकार इतना शीघ्र न हो सकता। परन्तु भगवान् को जो अभीष्ट होता है, उस के साधन अकस्मात् ही पैदा हो जाते हैं। सरकार भी एक के पीछे दूसरी भूल करती गई और महात्मा जी एक चतुर कारीगर की तरह विरोधियों की हरेक भूल को अपने लिये उपयोगी बनाते गये। कलकत्ते के विशेष और नागपुर के वार्षिक-कांग्रेस अधिवेशनों ने महात्मा गांधी के द्वारा प्रस्तावित कार्य-क्रम को पूरी तरह अपना लिया। १९२१ वाँ वर्ष देश के लिए राजनीतिक इतिहास में स्मरणीय रहेगा। उस से देश के दृष्टिकोण में क्रांति पैदा हुई। उसी वर्ष इंगलैण्ड के युवराज की भारत यात्रा के अवसर पर भारत-वासियों की ओर से जैसा विरोधी प्रदर्शन हुआ वैसे की उस से एक वर्ष पूर्व कल्पना में भी नहीं आ सकता था। सरकार

ने भी देशव्यापी दमन कर के उस प्रदर्शन की विशालता को अंगीकार किया, जिस से असहयोग आँदोलन को और भी अधिक पुष्टि मिली।

क्रांति से भरे हुए उन दो वर्षों का अति संक्षिप्त विवरण मैंने केवल इस लिये दिया है कि १९२१ के अन्त में अहमदाबाद में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ उस के संस्मरणों को पाठकों के सन्मुख स्पष्टता से रख सकूं। मैं उन वर्षों में राजनीतिक कार्य क्षेत्र से अलग सा हो गया था। गुरुकुल काँगड़ी से बुलाये जाने पर मैं वहां चला गया था। उन दिनों गुरुकुल में रहते हुये भी मैं देश की राजनीति से पूरी तरह परिचित रहने का यत्न करता रहा, परन्तु कार्यक्षेत्र से अलग रहा। अमृतसर की कांग्रेस के पश्चात् मैं अहमदाबाद की काँग्रेस में दर्शक रूप से सम्मिलित हुआ। जैसे किसी मनुष्य के शारीरिक परिवर्तनों को हर रोज देखने वाले व्यक्ति की अपेक्षा वह व्यक्ति अधिक स्पष्टता से अनुभव कर सकता है, जो उसे बहुत समय व्यतीत हो जाने पर देखे, उसी प्रकार उन दो वर्षों में काँग्रेस में जो आमूलचूल परिवर्तन हुआ, उसे मैं अधिक स्पष्टता से अनुभव कर सका, ऐसा मेरा विचार है।

अहमदाबाद की कांग्रेस

दिल्ली से अहमदाबाद के लिये रेल पर सवार होने के समय स्टेशन पर जो दृश्य देखा, वह बदले हुए राजनीतिक

वातावरण का पहला चिन्ह था। सारा स्टेशन चांदी के समान चमकते हुए सफेद खद्दर पहनने वाले प्रतिनिधियों से भरा दिखाई देता था। सम्भवतः स्टेशन पर विद्यमान भीड़ में अन्य लोगों की संख्या अधिक हो, परन्तु यह एक मनोवैज्ञानिक सचाई है कि वेश की समानता संख्या को आंखों के लिए सौ गुना कर देती है। नियन्त्रण में बंधे हुए दस आदमी अनियन्त्रित हजार आदमियों पर हावी हो जाते हैं। यह पहला वर्ष था जब देश पर महात्मा जी के प्रभाव की सूचना दृष्टि-मात्र से मिलती थी। अहमदाबाद जाने वाले प्रतिनिधि, दर्शक और स्वयंसेवक सब खादी के वेश में थे। अहमदाबाद पहुँच कर तो खादी का साम्राज्य ही दिखाई देता था। शहर में जिधर जाओ गाँधी टोपियों का बादल सा उमड़ता दृष्टिगोचर होता था। महात्मा जी की नेतृत्व शक्ति का यह सब से प्रथम और स्थूल प्रमाण था। कोई सेना नहीं बन सकती जब तक उस का नियत वेश न हो। भारत की राजनीति को महात्मा जी की यह सब से प्रथम महत्वपूर्ण देन थी कि उन्होंने राष्ट्रियता का एक वेश बना दिया। अहमदाबाद में वह एकता, जो वेश की एकता से प्रकट होती है—गली, कूचों में, राह जातों को भी दिखाई दे रही थी। उस का यह परिणाम स्वाभाविक ही था कि अन्य सब जयकारों को 'महात्मा गांधी की जय' के नारों ने दबा दिया था। एक वार

तो महात्मा जी की जयकार का नारा इतने जोर से उठा कि उस ने भारत माता की जय के निनाद को भी दबा दिया। अहमदाबाद की काँग्रेस में गांधीयुग, उठते हुए यौवन की दशा में दृष्टिगोचर हो रहा था। उस समय मुझे १६१८ की कांग्रेस की याद आई। दिल्ली में उस अधिवेशन के समय मैं पत्रकारों में बैठा हुआ मञ्च की शोभा को देख रहा था। मञ्च पर जाने वाले नेताओं में मानों विलायती सूट की सुन्दरता की होड़ लगी हुई थी। एक से बढ़ कर दूसरा महापुरुष साहिबी की दौड़ में आगे निकलने की कोशिश में था। जब नेता लोग मञ्च पर चढ़ते थे, तब उन के बूटों की चरचराहट सारे मण्डप में गूंज जाती थी। अहमदाबाद में वह सब बदल गया था। धनी और निर्धन, नेता और स्वयंसेवक, स्त्री और पुरुष सब खद्दर के सफेद वेश में शोभायमान थे। पैरों में सभी के चप्पल थीं। यह वेश की एकता राजनीति में महात्मा जी की प्रमुखता का पहला शानदार परिणाम था।

यह पहली कांग्रेस थी, जिस ने जनता के मेले का रूप धारण किया। कांग्रेस के प्रतिनिधियों का एक मुख्य डेरा तो था ही, उस के अतिरिक्त कई उप-कैम्प भी थे। महात्मा जी का कैम्प सब से अलग बनाया गया था। उस की व्यवस्था अन्य डेरों से अलग ही थी। उस के पश्चात् प्रत्येक ऐसी कांग्रेस में, जिस में महात्मा जी सम्मिलित हुये, एक अलग

महात्मा कैम्प बनाने की प्रथा का निरन्तर पालन किया गया।

इस कांग्रेस की एक बड़ी विशेषता यह थी कि मुसलमान समूह रूप से सम्मिलित हुए थे क्योंकि खिलाफत को कांग्रेस के कार्यक्रम का एक भाग बना दिया गया था।

उन दिनों साधारण मुसलमान कांग्रेस को खिलाफत के नाम से ही पुकारते थे। हम लोगों को खद्दर पहने हुए देख कर मुसलमान ताँगेवाले प्रायः पूछा करते थे 'क्यों बाबू जी क्या आप भी खिलाफत में काम कर रहे हैं। सुना है, गाँधी जी भी आजकल खिलाफत में काम कर रहे हैं।' उस युग के मुसलमान कांग्रेस को खिलाफत का एक छोटा सा सीग़ा (विभाग) समझते थे। नेताओं की बात दूसरी है। वे समझते तो ठीक होंगे परन्तु शायद अपने मुसलमान अनुयायियों को बतलाते यही थे कि कांग्रेस खिलाफत में शामिल हो गई है। अहमदाबाद में मुसलमान उलेमाओं और उन के अनुयायियों का अलग कैम्प था जिस के द्वार पर अर्ध चन्द्रवाला नीला झण्डा फहरा रहा था। मौलाना शौकतअली और मौलाना मुहम्मदअली कराची में पढ़े गए फतवे के अपराध में जेल में थे। उन की अहमदाबाद में अनुपस्थिति ने मुसलमानों के जोश को और भी अधिक भड़का दिया था।

हम लोग एक जुदा कैम्प में ठहरे थे, जिस के केन्द्र पिता जी थे। उसे आर्य-समाजी राष्ट्रवादियों का डेरा कहा

जा सकता है। उस डेरे में सैकड़ों स्त्री-पुरुष ठहरे हुए थे। प्रति दिन प्रातःकाल और सायंकाल विशेष व्याख्याताओं के व्याख्यान के लिये अन्य डेरों की भांति इस डेरे में भी प्रबन्ध था। दो व्याख्यान मुझे विशेष रूप से याद हैं। एक व्याख्यान पंडित रामभजदत्त चौधरी का था। आप पञ्जाब के प्रसिद्ध आर्य समाजी थे, और हाल में ही राजनीति में प्रविष्ट हुए थे। दूसरा व्याख्यान श्री स्वामी सत्यदेव जी परिव्राजक का था। स्वामी जी को मैं अपने प्रारम्भिक राजनीतिक शिक्षकों में से मानता हूं। उन की मनुष्यों के अधिकारों पर लिखी हुई छोटी सी पुस्तिका ने बाल्यावस्था में मुझे बहुत प्रभावित किया था। स्वामी जी के राजनीतिक व्याख्यान सुनने का मुझे बहुत शौक था। मैंने उन का यह पहला राजनीतिक व्याख्यान सुना। मैं उन की वक्तृत्व शक्ति से बहुत प्रभावित हुआ। उन के व्याख्यान का निम्न लिखित हिस्सा अभी तक मुझे याद है। 'लोग मुझसे पूछते हैं, स्वामी जी आप सिर के बाल कब कटवायेंगे ? मैं उन्हें जवाब देता हूँ अरे, ये तो सिंह की लटाएं हैं, ये तब तक नहीं कटेंगी, जब तक हमारा देश स्वतन्त्र नहीं हो जायगा। ये जेल में भी मेरे साथ ही जाएंगी।'

कांग्रेस का बृहद् अधिवेशन

अहमदाबाद के कांग्रेस अधिवेशन की कई विशेषतायें थीं। मुख्य मण्डप में से कुरसी और मेज को पहली वार देशनिकाला

दिया गया। मञ्च पर और नीचे चटाइयों के ऊपर चादर बिछा दी गई थीं। यह इस बात का चिन्ह था कि कांग्रेस कुछ श्रेणियों की न रह कर जनता की चीज हो गई। दूसरी विशेषता यह थी कि मण्डप में जिधर देखो, सफेद खद्दर ही खद्दर दिखाई देता था। मौलानाओं तक ने ऊंची ऊंची खद्दरी टोपियां पहन रखी थीं। तीसरी विशेषता थी सरदार वल्लभभाई पटेल के स्वागताध्यक्ष के पद पर से दिये गये भाषण की संक्षिप्तता। इस से पूर्व स्वागताध्यक्ष से यह आशा की जाती थी कि कांग्रेस के सभापति को जो कुछ कहना चाहिये, उसे स्वागताध्यक्ष पहले ही कह जायगा। इस पिष्टपेषण से कांग्रेस का समय व्यर्थ में ही नष्ट होता था। सरदार वल्लभभाई पटेल ने अपना स्वागतभाषण शायद पन्द्रह मिनट में ही समाप्त कर दिया। इन नवीनताओं से प्रतिनिधि लोग बहुत ही प्रसन्न हुए। सरदार के संक्षिप्त भाषण से उन के बारे में लोगों ने जो सम्मति बनाई वह दो तरह की थी। सरदार का असली रूप अभी भारतवासियों के सामने नहीं आया था। कुछ ने कहा—महात्मा जी के अनुयायी होने के कारण ही इन्हें स्वागताध्यक्ष बनाया गया है। अपने भाई श्री विट्ठल भाई पटेल जैसी योग्यता इन में नहीं है, बेचारे क्या बोलते। जो लोग सरदार से कुछ परिचित थे, उन्होंने यह समाधान किया कि वल्लभ भाई कर्मप्रधान पुरुष हैं, वाणीप्रधान नहीं। ये

कहते कम और करते अधिक हैं।

इस अधिवेशन के अध्यक्ष पद के लिए देशबन्धु दास का चुनाव हुआ था। वे जेल में थे। उन के स्थान पर सभापतित्व करने के लिए हकीम अजमलखां साहब का निर्वाचन किया गया। हकीम साहब अङ्गरेजी नहीं जानते थे। उन्होंने अपना प्रारम्भिक भाषण उर्दू में पढ़ा था, यह कांग्रेस की चौथी विशेषता थी।

अहमदाबाद कांग्रेस की सब से बड़ी विशेषता यह थी कि इस के प्रथम और मुख्य प्रस्ताव द्वारा कांग्रेस के डिक्टेटर का कंटीला ताज महात्मा जी के सिर पर रखा गया और उस से भी विशेष महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि वह ताज महात्मा जी ने अपने हाथों से स्वयं अपने सिर रखा। इस घटना ने उस समय नैपोलियन की ताज-पोशी का दृश्य याद करा दिया। जब सम्राट् पद पर आरूढ़ होने के समय पोप ने नैपोलियन के सिर पर रखने के लिए ताज उठाया तो नैपोलियन ने हाथ बढ़ा कर उसे स्वयं अपने हाथों में ले कर सिर पर रख लिया। महात्मा जी ने वह प्रस्ताव स्वयं ही उपस्थित किया, जिसके द्वारा उन्हें कांग्रेस के सर्वाधिकार समर्पण किये गये थे। महात्मा जी ने उस समय जो भाषण दिया उस के शब्द मेरे कानों में अब भी गूंज रहे

हैं। उन शब्दों का श्रोताओं पर जो अद्‍भुत प्रभाव हो रहा था वह भी मुझे स्पष्ट रूप से याद है। महात्मा जी ने जो कुछ कहा उस का अभिप्राय यह था—देश में स्वराज्य की उत्कृष्ट अभिलाषा पैदा हो गई है। देशवासियों को यह भी विश्वास हो गया कि उन की इच्छा अहिंसात्मक लड़ाई द्वारा पूरी हो सकती है। मैं अहिंसात्मक लड़ाई का उद्‍भावक और आचार्य हूँ। यह भी सम्भावना है कि शीघ्र ही सरकार नेताओं की गिरफतारी करने वाली है, इन कारणों से मैं प्रस्ताव करता हूँ कि स्वराज्य की अहिंसात्मक लड़ाई चलाने के लिए मुझे डिक्टेटर के पूर्ण अधिकार दिये जांय और यह भी अधिकार दिया जाय कि मैं स्वयं अपने उत्तराधिकारी चुन सकूं। मैं विश्वास रखता हूं कि हम अहिंसात्मक भावना से स्वराज्य की लड़ाई लड़ सकेंगे। हम एक वर्ष के अन्दर-अन्दर स्वराज्य प्राप्त कर सकते हैं और भारत का सूर्यमंडल में वही ऊंचा स्थान हो सकता है, जिस का वह अधिकारी है।

जिस समय महात्मा जी व्याख्यान दे रहे थे, श्रोता मानों मन्त्रमुग्ध हो रहे थे। आत्म-विश्वास का जादू मैंने उस दिन देखा। मेरे पास मेरठ के एक वकील और एक धनी व्यक्ति बैठे थे। महात्मा जी के एक-एक शब्द पर मानों उनके खून में उबाल आता था। उफ और ओह—इस प्रकार के बेचैनी सूचित करने वाले शब्द बार-बार उनके मुंह में निकलते थे।

वे मानों अनुमान कर रहे थे कि स्वराज्य उन की ओर भगा चला आ रहा है और भारत संसार की चोटी पर बड़े वेग से चढ़ रहा है । महापुरुष का मैस्मरेजम उन के चेहरे पर उग्र रूप में झलक रहा था । श्रोताओं में से अधिकांश की वैसी ही दशा थी । तब क्या आश्चर्य की बात थी कि वह प्रस्ताव जोश के उमड़ते हुए तूफान में महात्मा गांधी की जय के नारों के बीच स्वीकार किया गया ।

इस प्रकार अहमदाबाद कांग्रेस के मुख्य प्रस्ताव द्वारा देश में गांधीयुग का पूर्ण अधिकार हो गया ।

—

तीसवां परिच्छेद

स्वामी जी और लाला जी

पंजाब के दो शेर

जब मैं पिता जी और लाला लाजपतराय जी के परस्पर सम्बन्ध के विषय में अपनी स्मृतियों को इकट्ठा करके देखता हूं तो मुझे जंगल के दो शेरों की लोकोक्ति याद आती है । कहते हैं एक जंगल में दो शेर नहीं रह सकते, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि वे दूसरे की बहादुरी को भी पहिचानते नहीं । यह स्पष्ट है कि वे दूसरे की शक्ति को पहिचानते हैं, उस

का आदर करते हैं और इसलिये साथ-साथ रहना पसन्द नहीं करते। वे जानते हैं कि दो राजा और दो शेर एक साथ नहीं रह सकते। यदि उन से एक दूसरे के विषय में राय पूछी जाय तो वे यही कहेंगे कि वह शेर है, और मैं भी शेर हूँ, हम दोनों एक जंगल में कैसे रह सकते हैं।

यह एक सर्वसम्मत सी बात है, और जिस से शायद कोई ही पंजाबी इन्कार करे कि लाला जी और स्वामी जी अपने-अपने क्षेत्र में वीर सिपाहियों के वीर सेनापति थे। यही गुण था जिसने उन्हें पंजाब का नेता बनाया। उन दोनों वीर नेताओं के पश्चात् पंजाब को वैसा नेतृत्व नहीं मिला। यही पंजाब के वर्तमान सार्वजनिक जीवन का सब से बड़ा रोग है। जो पंजाबी सरकारी नेताओं की कमान में आकर ब्रिटिश साम्राज्य के लिये पृथ्वी के कोने-कोने में लड़ाइयां लड़ते और वीरता के क्षेत्र में नाम पैदा करते थे वही पंजाबी सिंह सदृश सेनापतियों के अभाव में देश की राजनैतिक दौड़ में पिछड़ रहे हैं।

यह तो प्रसंगागत बात हुई। यहां तो मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि लाला जी और पिता जी में नेतृत्व की दृष्टि से इतनी अधिक समानता थी कि उन्हें निश्शंक होकर एक ही जंगल के दो शेर कहा जा सकता है। दोनों का कार्य क्षेत्र एक सा रहा। दोनों एक दूसरे के गुणों का आदर

करते थे परन्तु शायद ही कभी कोई ऐसा समय आया जब दोनों ने एक ही संस्था में काम किया हो, एक ही व्याख्यान-वेदी पर व्याख्यान दिया हो अथवा एक आन्दोलन को इकट्ठे मिल कर चलाया हो। यदि कभी अकस्मात् ऐसा अवसर आ भी गया है तो वह शीघ्र समाप्त होता है। कभी देर तक नहीं चला।

आर्य-समाज के क्षेत्र में

दोनों महापुरुषों ने अपने-अपने सार्वजनिक जीवन का आरम्भ आर्य-समाज में किया। दोनों ही शुरू से एक महान् व्यक्ति लाला सांईदास जी के प्रभाव में रहे। दोनों में जोश था, त्याग की भावना व निर्भयता थी और तर्क करने की शक्ति थी। दोनों ही अपने ढंग के प्रभावशाली वक्ता थे। यदि पंजाब की आर्य-समाजों में फूट न पड़ती या फूट पड़ने पर भी दोनों महापुरुष एक ही पक्ष में चले जाते तो आर्य-समाज का और साथ ही पंजाब का सार्वजनिक जीवन शायद दूसरी ही तरह का होता, परन्तु दो शेर एक जंगल में न रह सके। पिता जी महात्मा पार्टी के नेता बन गये और लाला जी कालेज पार्टी के।

समय का प्रवाह बहता गया। लाला जी ने अपनी सारी शक्ति डी० ए० वी० कालेज के निर्माण में लगा दी और स्वामी जी ने सर्वमेध-यज्ञ कर के गुरुकुल विश्वविद्यालय खड़ा

किया। लाला जी का केन्द्र स्थान लाहौर था और स्वामी जी ने अपना केन्द्र हरिद्वार में बनाया। उस समय मैं बच्चा था। इस कारण दोनों महापुरुष एक दूसरे के सम्बन्ध में क्या विचार रखते थे, निजू ज्ञान के आधार पर इस विषय पर कोई सम्मति नहीं दे सकता। मेरी सम्मतियों का सिलसिला उस समय से आरम्भ होता है जब लाला जी राजनीति में प्रवेश कर चुके थे। मैं वहीं से इस सन्दर्भ को शुरू करता हूं।

मांडले की जेल में

लाला जी के और पिता जी के परस्पर सम्बन्ध का दूसरा परिच्छेद उस समय से आरम्भ होता है जब सरकार ने लाला जी को गिरफ्तार करके नजरबन्दी के लिये मांडले के किले में भेज दिया था। लाला जी उस समय राजनीति के क्षेत्र में पूरी तरह जा चुके थे। सारा पंजाब उनके तपस्वी आभूषणों से हिल गया था। सरकार उस प्रकम्प को न सह सकी, उस ने लाला जी को और कुछ अन्य नेताओं को पंजाब से बाहर जेलों में बन्द कर दिया।

इस से पूर्व लाला जी आर्य-समाज के एक प्रमुख कार्यकर्ता माने जाते थे। उन में और आर्य-समाज में एकीभाव सा हो रहा था। उन की गिरफ्तारी का आर्य-समाज और आर्यसमाजियों पर बहुत असर पड़ा। सरकार आर्य-समाज को सन्देह की निगाह से देखने लगी और आर्य-

समाज अपने को सरकार का कोप-भाजन समझने लगी। डी० ए० वी० कालेज के लाला जी जीवनप्राण थे। उन की गिरफ्तारी का सब से पहला और जोरदार असर डी० ए० वी० कालेज कमेटी पर पड़ा। जिसने गिरफ्तारी के कुछ ही दिनों के अन्दर इस आशय का ठहराव पास किया कि लाला जी की राजनैतिक हलचलों का आर्य-समाज और डी० ए० वी० कालेज से कोई सम्बन्ध नहीं है।

मैं इस से पूर्व बतला आया हूँ कि आर्य-समाज के कार्य क्षेत्र में लाला जी और पिता जी प्रतिस्पर्धी के रूप में ही कार्य करते रहे। उस समय दोनों एक दूसरे के आलोचक थे। जब लाला जी ने राजनैतिक कार्य आरम्भ किया तब भी परिस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। लाला जी को परमात्मा ने ऐसी शक्ति प्रदान की थी कि वह एक ही भाषण से जनता के हृदय पर अधिकार कर लेते थे। राजनीति में आने पर भी उन्हें लोगों के हृदयाधिदेवता बनने में देर न लगी। लाहौर में उन का जलूस निकाला गया जिस में जनता का जोश यहाँ तक बढ़ा कि लोगों ने गाड़ी के घोड़े खोल दिये और स्वयं गाड़ी को खेंचा। उन दिनों की राजनीति से पिता जी असन्तुष्ट थे। वे उसे चरित्रहीन राजनीति कहा करते थे। उन्हीं दिनों के सद्धर्म प्रचारक में पिता जी के राजनीतिक आन्दोलन के विषय में एक आलोचनात्मक लेखमाला है। अन्य घटनाओं

के साथ गाड़ी के घोड़े खोलने वाली घटना का उल्लेख भी कड़ी आलोचना के साथ किया गया था। जब लाला जी गिरफ़्तार हो गए तब किसी को यह आशा नहीं थी कि उन का सब से जबरदस्त समर्थन पिता जी की ओर से होगा। पुराने आर्यसमाजी आश्चर्य से आँखें मलने लगे। जब उन्होंने सिविल मिलिट्री गजट में पिता जी की लिखी हुई आर्यसमाज सम्बन्धी लेखमाला पढ़ी (उस लेखमाला में पिता जी ने लाला जी की निष्कपट सफाई पेश की थी) तो साथियों की ओर से नहीं-नहीं और आलोचकों की ओर से हाँ-हाँ का व्यवहार देख कर लोग चकित होने लगे। परन्तु इस में आश्चर्यित होने की कोई बात नहीं थी। जहाँ लाला जी के पहले के साथी बुद्धि-प्रधान व्यक्ति थे, वहाँ पिता जी में बुद्धि और भावुकता का अद्भुत मेल था। दूसरे के दुःख को देख कर वे एकदम पसीज जाते थे। असली वीरता के सामने उन का सिर अनायास झुक जाता था। संस्कार रास्ते में रुकावट नहीं डाल सकते थे। जिस व्यक्ति का सारा जीवन विरोधी शक्तियों से सीधी टक्कर लेने में व्यतीत हुआ हो, उसके विषय में सुन कर पाठक आश्चर्यित होंगे कि किसी के दुःख की बात सुनते या कहते हुए उन का गला भर आया करता था और आँखों में आँसू झलक आते थे। ऊँचे स्वर से पुस्तक अथवा पत्र पढ़ते हुए करुणा या वीरता की मार्मिक बात आते ही उन का

पढ़ना रुक जाता था। सुनने वाले अनुभव कर लेते थे कि उनका हृदय भर आया है। लाला जी की गिरफ्तारी का भी उन पर ऐसा ही असर हुआ। अब वे लाला जी को एक घायल सेनापति के रूप में देख रहे थे। उनके हृदय से विरोध के भाव दूर हो गये थे। लाला जी भी भावुकता में पिताजी से कुछ कम नहीं थे। उन पर पिता जी के लेख का बहुत गहरा असर हुआ। जब वह मांडले से लौटकर लाहौर आये तब उन से मिलने के लिये पिता जी उन की कोठी पर गये थे। उस समय मैं भी उन के साथ था। दोनों भावुक व्यक्तियों का मिलन बहुत ही भावुकतापूर्ण था। दोनों भाई भाई की तरह बगलगीर हुए। दोनों के नेत्र उस समय प्रेम के आँसुओं से गीले थे और भी बहुत से मित्र उस समय वहाँ उपस्थित थे। उन सब को दो पुराने महान् प्रतिस्पर्द्धियों को भाई भाई की तरह मिलना बहुत ही प्यारा लगा।

मुझे आप पर अभिमान है

भारत के घटना-चक्र ने फिर पलटा खाया। लाला लाजपतराय जी अमरीका गये और वहीं रोक दिये गये। उन्हें वर्षों तक वहाँ घर बना कर रहना पड़ा। लाला जी ने उस लाचारी के प्रवास का पूरा उपयोग किया। उन्होंने भारत के पक्ष में लेख और वाणी द्वारा खूब प्रचार किया। जिस से अमरीका में और अन्य देशों में भी भारत के

स्वाधीनता-आन्दोलन की चर्चा विशेष रूप से हुई। इसी बीच में योरप का पहला महायुद्ध आरम्भ हो गया। युद्ध के दिन लाला जी को अमरीका में ही काटने पड़े। युद्ध के समाप्त होने पर भी बहुत समय तक उन्हें वहां रुके रहना पड़ा। इधर भारतवर्ष में रौलट ऐक्ट का आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। देश भर में असन्तोष की आग भड़क उठी और उस से भी विशेष रूप से पंजाब में तो मानो ज्वालामुखी फट पड़ा। सरकार के रोष का वज्र पंजाब पर भी उग्रतम रूप में पड़ा। उन दिनों दिल्ली और पंजाब पर जो आपत्तियाँ आयीं, उन के समाचार पढ़ कर हजारों मील दूर बैठे हुए पंजाब-केसरी के भावुकता पूर्ण हृदय की जो दशा होती होगी, उसका अनुमान ही लगाया जा सकता है। वह कभी आँसू बहाता होगा तो कभी प्रज्वलित हो उठता होगा। जी चाहता होगा कि उड़ कर देश में पहुँच जाऊँ तथा सरकार और प्रजा के बीच में खड़ा हो कर दमनकारियों से ललकार कर कह दूं कि आओ मैं यहाँ खड़ा हूं, यदि इच्छा हो तो मेरी छाती से टकरा जाओ, पर याद रखो कि मेरी छाती को पार किये बिना तुम प्रजा तक नहीं पहुंच सकोगे। देश की जाग्रति और सरकार के दमन के समाचारों के साथ ही लाला जी ने यह समाचार भी पढ़े कि दिल्ली और पंजाब में जनता का नेतृत्व स्वामी जी कर रहे हैं। उन्होंने दिल्ली की जामा-मस्जिद

के मिम्बर पर से भारतीय एकता पर स्वामी जी द्वारा दिये गये सरमन का समाचार पढ़ा और फिर यह भी सुना कि मार्शल-ला से आज पंजाब की सेवा के लिये स्वामी जी सर माइकेल ओडवायर की नयी तलवार की परवाह न कर के अमृतसर पहुंच गये। इन समाचारों का लाला जी के हृदय पर जो प्रभाव पड़ा वह उन के उस समय स्वामी जी के नाम लिखे गये पत्र की एक पंक्ति से बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। आपने अपने प्रेम और अपनावट से भरे हुए पत्र में लिखा था 'मुझे आप पर अभिमान है'। इस एक छोटे से वाक्य में कितनी ममता और कितनी सहृदयता भरी पड़ी है। उसे हृदय वाले ही जान सकते हैं। लाला जी को ऐसा अनुभव हो रहा था कि मानो स्वामी जी के शरीर में उन्हीं की आत्मा काम कर रही है। ऐसा वाक्य प्रायः ऐसे भाई के लिये लिखा जाता है। जो सामान्य सगे से भी अधिक सगा हो।

गुरुकुल में

आखिर वह समय भी आ गया जब लाला जी अपने देश में आ गये। उस समय असहयोग आन्दोलन आरम्भ हो चुका था। लाला जी ने आते ही पंजाब में असहयोग युद्ध-की कमान संभाल ली। असहयोग के कार्यक्रम का एक भाग यह भी था कि सरकारी ढंग की प्रचलित शिक्षा का बहिष्कार किया जाये। डी० ए० वी० कालेज के निर्माण में लाला जी का

बहुत बड़ा भाग था। उन्होंने कालेज के लिये तन मन और धन की समूची शक्तियाँ लगा कर उद्योग किया था। परन्तु असहयोग धर्म का एक आदेश चाहता था कि लाला जी उसी अपने खून से सींचे हुए कालेज का विरोध करें। कोई छोटा व्यक्ति होता तो इस धर्म-संकट में ठिठक जाता। पर लाला जी वस्तुतः महान् थे। वह सांसारिक मोह से ऊँचे उठ गये थे और डी० ए० वी० कालेज के छात्रों को कालेज छोड़ कर राष्ट्रीय शिक्षणालय में पढ़ने की प्रेरणा करने लगे। उन्हीं दिनों गुरुकुल काँगड़ी के वार्षिकोत्सव पर लाला जी को निमन्त्रित किया गया। डी० ए० वी० कालेज और गुरुकुल काँगड़ी एक दूसरे से बिलकुल उलटी संस्थाएँ मानी जाती थीं। आर्यसमाज की दुनिया में दोनों को एक दूसरे के निषेध से समझा जाता था। लाला जी कालेज के जन्मदाताओं और संचालकों में से प्रमुख व्यक्ति थे। इधर स्वामी जी गुरुकुल के संस्थापक और सर्वेसर्वा थे। समय का चिह्न समझिये कि लाला जी को स्वामी जी ने गुरुकुल के उत्सव पर निमन्त्रण दिया। लाला जी ने उसे सहर्ष स्वीकार किया। इस से पूर्व लाला जी का नाम हम लोगों के लिये ऐसा ही था जैसा किसी ऐतिहासिक वीर-शिरोमणि का। पढ़ा था कि जयमल फत्ता और आल्हा ऊदल बड़े बहादुर थे। शत्रु उन के नाम से कांपा करते थे, और मित्र उन की आन के सहारे

जीते थे। हम लोग गुरुकुल में रहते थे। कभी लाला जी के दर्शनों का सौभाग्य नहीं पाया था। उन का नाम सुनते थे, उन की वीर-गाथाएं पढ़ते थे और हृदय से उन के चरणों में अपना सिर झुकाते थे। जब सुना कि लाला जी गुरुकुल में आएंगे तो हमारे दिल बांसों उछलने लगे। सुन रखा था कि लाला जी की ज़बान में जादू है। हम लोगों को सब से बड़ी प्रसन्नता यह हो रही थी कि लाला जी का भाषण सुनेंगे; जो हमारे लिए अब तक केवल एक दन्त-कथा बनी हुई थी। उसे स्थूल रूप में आंखों के सामने आने की आशा से सब ब्रह्मचारी असाधारण रूप से प्रसन्न थे।

लाला जी का गुरुकुल में बड़ी धूम-धाम से स्वागत हुआ। स्वागत का तो आजकल रिवाज हो गया है, परन्तु आप सच मानें वह स्वागत बिलकुल हार्दिक था। हम लोगों के हृदय लाला जी के स्वागत के लिए उमड़े पड़ते थे।

लाला जी दलितोद्धार-सम्मेलन के सभापति निर्वाचित हुए थे। जब आप बोलने के लिए खड़े हुए, तब बहुत देर तक पण्डाल तालियों से गूंजता रहा। आर्य-समाज और कांग्रेस के शब्दकोष में जितने जोशीले नारे थे सब लगा दिए गए। अनुभव हो रहा था कि डी. ए. वी. कालेज के एक संस्थापक को गुरुकुल में देख कर आर्य-समाजी लोग, आर्य-समाज की एकता का, और एक राष्ट्रीय नेता को गुरुकुल में देख कर

राष्ट्रवादी लोग भारतीय राष्ट्र की एकता का स्वप्न देख रहे थे । ब्रह्मचारियों के लिए लाला जी का भाषण सुनने का पहला ही अवसर था, इस कारण उन की उत्सुकता बहुत ही बढ़ी-चढ़ी थी ।

लाला जी कैसे वक्ता थे, इस पर मैं यहाँ कुछ नहीं कहूँगा । मैं दीपक दिखा कर सूर्य की रोशनी को प्रकाशित क्या करूँ ? हम लोगों पर उन का क्या असर पड़ा, इस की चर्चा भी किसी दूसरे स्थान पर ही करूँगा । यहाँ तो मैं उन थोड़े से संस्मरणों को स्मृति की पुस्तक में से उद्धृत करता हूँ जो लाला जी ने उस भाषण में स्वामी जी और गुरुकुल के सम्बन्ध में कहे थे । आपने कहा—

'मुझे जब स्वामी जी की ओर से गुरुकुल का निमन्त्रण-पत्र मिला था तब मैंने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया । डी. ए. वी. कालेज से मेरा उस की स्थापना के समय से ही सम्बन्ध है । वह सम्बन्ध ऐसा है जैसे एक बाप का बेटे के साथ होता है । मैं डी. ए. वी. कालेज को अपनी सन्तान की तरह प्यार करता हूँ । परन्तु गुरुकुल में मेरा प्रेम दूसरी ही तरह का है । मैं उस से ऐसा प्यार करता हूँ जैसा एक प्रेमी को प्रेमिका के साथ होना चाहिए ।'

यह वाक्य अभी समाप्त भी न हुआ था कि सारा पंडाल तालियों से गूंज उठा । यहाँ तक कि वाक्य के अन्तिम शब्दों

का केवल अनुमान ही लगाया जा सका। उस असामान्य रूप से परिमार्जित ऊंचे और तार-स्वर से कहे हुए भावुकता पूर्ण यह वाक्य श्रोताओं के हृदयों को पार कर के मानों उन की अन्तरात्माओं में प्रवेश कर गए। उस समय हम लोगों ने पहली वार अनुभव किया कि व्याख्यान-कला का जादू किसे कहते हैं। लाला जी उस कला के आचार्य थे। हिन्दुस्तानी भाषण की कला में लाला जी जो ऊंचा पैमाना कायम कर गए हैं, वह आज तक भी अछूता ही पड़ा है। कोई वक्ता उस की निचली रेखा को छू तक नहीं सका।

गुरुकुल में स्वामी जी और लाला जी भाई-भाई की तरह गले से गले मिला कर मिले। दो ऐसे सेनापति जिन की तबियतों में परस्पर समानताएँ असमानताओं की अपेक्षा बहुत अधिक थीं, यदि समानताएँ ९० थीं तो असमानताएँ १० थीं। उन्हें परिस्थितियों ने अलग-अलग मोर्चों पर खड़ा कर दिया था। गुरुकुल में उन दोनों को एक ही मोर्चे पर खड़ा देख कर आर्य-जनता अपने अङ्गों में फूली नहीं समाती थी।

इकत्तीसवाँ परिच्छेद

१६२४ का एकता सम्मेलन

जैसे १६१६ के प्रारम्भ में भारत की राष्ट्रीयता और

एकता के सुनहरे अनुभव की प्रारम्भिक स्मृतियाँ मेरे स्मृति-पट पर अंकित हो गई थीं, उसी प्रकार १६२४ के पहले साम्प्रदायिक दंगे की काली और कड़वी स्मृतियाँ भी अंकित हुए बिना न रहीं। वे दिन जब याद आते हैं, तो दिल काँप उठता है। यदि रौलटऐक्ट के आन्दोलन ने दिल्ली के अन्तरिक्ष में सुप्रभात का रूप बाँध दिया था, तो कहना पड़ेगा कि १६२४ के फिसाद ने भयावनी रात्रि का दृश्य दिखला दिया। सुप्रभात के पीछे इतनी शीघ्र रात्रि आ जायगी, यह आशंका किसी को नहीं थी।

दंगा अकस्मात् नहीं हुआ। उस की तैयारी और समय तक का निश्चय प्रत्यक्ष में हुआ। स्थानीय सरकार को उस उद्योगपर्व का एक-एक सर्ग मालूम था। एक ओर जाटों के इलाके पहाड़ी धीरज पर से कुर्बानी की गाय को धूम-धाम से ले जाने की तैयारी हो रही थी, और दूसरी ओर उस रास्ते को रोकने की योजना खुले तौर पर बनाई जा रही थी। सारा शहर जानता था, और स्थानीय सरकार भी जानती थी। सरकार ने उन योजनाओं को नहीं रोका—और ईद के मौके पर फिसाद हो गया।

फिसाद भी दिन दहाड़े अधिकारियों की नाक के नीचे हुआ। दिन के दो बजे होंगे। हजारों आदमियों की भीड़ के साथ कुर्बानी की गाय का जुलूस पहाड़ी धीरज पर से निकाला

जा रहा था। उसके साथ पुलिस की गारद थी। जब वह जुलूस एक विशेष स्थान पर पहुंचा तब पहले से आशंकित दंगे पर हिन्दू-मुसलमानों में मार-काट और छीना-झपटी शुरू हो गई, लाठी चली, पत्थर चले और छुरे भी चले। कुर्बानी का जुलूस छिन्न-भिन्न हो गया और फिसादी लोग आस-पास की गलियों में बिखर गए। वहाँ फिसाद ने बड़ा गन्दा और बीभत्स रूप धारण किया। बूढ़े, बच्चे और स्त्रियाँ किसी का भी लिहाज नहीं किया गया। मुसलमानों की भीड़ ने घरों में घुस कर हिन्दुओं को आहत किया और हत्याएँ भी कीं। घण्टा-घर पर सिपाहियों की गोलियों से बहाए गए रुधिर ने जिस एकता की वाटिका को हरा-भरा किया था, उस दिन छुरों और लाठियों द्वारा बहाए गए रक्त ने तेजाब बन कर उसे जला दिया। १९२४ के सायंकाल स्थान पर एकता और परस्पर प्रेम के खण्डहरों को शहर में बिखरा हुआ देख कर ऐसा अनुभव होता कि १९१९ का जागरण मानों एक सपना था, जिसे शत्रु ने झटका दे कर तोड़ दिया।

दिल्ली भारत का हृदय है, कलकत्ता और बम्बई आकार में बड़े हैं उस में ऐश्वर्य और शिक्षा की बहुतायत है—यह सब कुछ होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि दिल्ली देश की अनुभव, शक्ति का केन्द्र है। उस के हर्ष और शोक का असर देश पर तुरन्त और व्यापी होता है। जब दिल्ली से एकता

का झोंका उठा तब देश भर में सुखकारी पवन बहने लगा और जब दिल्ली में साम्प्रदायिक झगड़े का उत्पात मचा तो भारत प्रकम्पित हो उठा। फलतः उठते हुए बवंडर को रोकने के लिए सितम्बर मास में देश के प्रतिनिधियों की एक बृहद् कान्फ्रेन्स बुलाई गई। जिसमें सम्मिलित होने के लिए महात्मा गाँधी, पं० मदनमोहन मालवीय, मौलाना अब्दुल कलाम आज़ाद, मौलाना मोहम्मद अली जिन्ना आदि सार्वदेशिक हिंदू मुसलमान नेता एकत्र हुए।

सिंहावलोकन

महात्मा जी साम्प्रदायिक दंगे के भयानक समाचारों को सुन कर दिल्ली आये, और सब्ज़ीमण्डी में मेसर्स नन्हेमल जानकीदास की कोठी में ठहरे। वहाँ उन्होंने २२ दिन का स्मरणीय उपवास किया। उस उपवास और उसके साथ हुए एकता सम्मेलन की स्मृतियों को स्पष्ट रूप से अङ्कित करने के लिए कुछ थोड़े से सिंहावलोकन की आवश्यकता है। पूरा चित्र समझने में पाठकों को उससे सहायता मिलेगी।

१९२२ के दिसम्बर मास के गुरु के बाग वाले मोर्चे के सम्बन्ध में अकाली सत्याग्रहियों को आशीर्वाद देने के लिए पिता जी अमृतसर गये। वहाँ, अकाल-तख्त के समीप हुई सार्वजनिक सभा में दिये व्याख्यान पर पंजाब की सरकार ने आपको गिरफ्तार कर लिया। वस्तुतः यह गिरफ्तारी पंजाब

सरकार के दिमाग में दो साल से घूम रही थी। अमृतसर कांग्रेस के समय से ही ओडवायर के सलाहकार 'स्वामी' के विरुद्ध दाँत पीस रहे थे। अवसर पाकर पंजाब सरकार ने पिता जी को १६१६ में अमृतसर में कांग्रेस करने के अपराध की सजा १६२२ में एक वर्ष कारागार के रूप में दे डाली।

१६२२ के अन्त में पिता जी जेल से मुक्त होकर बाहर आ गये। जेल में संपूर्ण परिस्थति पर शान्त विचार करने से आप जिस परिणाम पर पहुंचे उसे आपने अपने संस्मरणों में निम्नलिखित भाषा में लिखा है—'मुझे निश्चय हुआ है कि अभी चरित्रगठन में बड़ी कमी है। कम से कम मैं तो ऐसे साँचे में ढला हूं कि कई अंशों में स्वयं सदाचार की कमी अपने अन्दर अनुभव करते हुए भी चरित्रहीन पुरुषों के साथ काम नहीं कर सकता। कांग्रेस, हिन्दू-महासभा, खिलाफत और अन्य अखिल भारत-वर्षीय संस्थाओं को चलाने के लिए बड़े-बड़े व्यक्ति विद्यमान हैं, मुझ जैसे अल्प शक्ति वाले मनुष्य के लिए यही बड़ा काम है कि ब्रह्मचर्य के उद्धार और दलित जातियों के उत्थान का मार्ग जो अपने को सूझा है, उसका सन्देश आर्य-जाति के आगे रखने का यत्न करूँ।'

जेल से बाहिर आकर अपने इसी संकल्प की पूर्ति में पिता जी ने कांग्रेस की वर्किंग कमेटी में इस आशय का प्रस्ताव भेजा कि कांग्रेस दलित भाइयों की माँगों को पूर्ण

करने का तुरन्त यत्न करे। कांग्रेस कमेटी शाब्दिक रूप से दलितोद्धार के कार्य से सहानुभूति प्रकट करती हुई भी उस समय क्रियात्मक रूप से कुछ करने को तैयार नहीं थी। यह अनुभव करके पिता जी ने १९२३ के जुलाई मास में कांग्रेस के प्रधान मंत्री पं० मोतीलाल जी नेहरू को कांग्रेस से अपना त्यागपत्र भेज दिया। पं० मोतीलाल जी नहीं चाहते थे कि पिता जी कांग्रेस से अलग हों, परन्तु आपके कई बार आग्रह-पूर्ण पत्र लिखने पर कमेटी ने त्यागपत्र स्वीकार कर लिया।

इन्हीं दिनों आगरा जिले में मलकानों की शुद्धि का आन्दोलन जारी हो रहा था। आर्य-समाज के प्रमुख नेता की हैसियत से आपकी भी उसमें सहानुभूति थी। शुद्धि कार्य के लिये जो शुद्धि-सभा बनी, आप उसके प्रधान चुने गये।

जो मुसलमान मौलवी हिन्दुओं तथा अन्य धर्मावलम्बियों में इस्लाम की तबलीग करना अपना मजहबी फर्ज समझते थे, वह शुद्धि कार्य, शुद्धि सभा, और उसके साथ सम्बन्ध होने के कारण पिताजी से भी सख्त नाराज हो गये, और मुसल-मान पत्रों ने बनके विरुद्ध विषैला आन्दोलन आरम्भ कर दिया। मोपलाओं और मुलतान के दंगों के कारण देश का साम्प्रदायिक वातावरण बिगड़ ही रहा था, उस बिगाड़ की जिम्मेदारी शुद्धि आन्दोलन और पिता जी के सिर मढ़ कर मौलाना मुहम्मद अली जैसे राष्ट्रवादी कहलाने वाले मुसल-

मान भी शुद्धि कार्य को स्थगित कराने के प्रस्ताव उपस्थित करने लगे ।

देश में बढ़ते हुए साम्प्रदायिक विक्षोभ को शांत करने के लिये १६२३ के दिसम्बर मास में कांग्रेस के विशेषाधिवेशन के साथ दिल्ली में एकता सम्मेलन का अधिवेशन भी किया गया था । उस सम्मेलन नें जब पिताजी पर यह जोर डाला गया कि वह मलकानों की शुद्धि के कार्य को बन्द करादें तो आपने अत्यन्त न्यायपूर्ण उत्तर दिया था कि "यदि मुसलमानों के सब प्रचारक वहाँ से लौट आयेंगे तो, मैं भी शुद्धि-सभा को अपने कार्य कर्ताओं को आगरे से लौटा लेने के लिये सलाह दूंगा, और यदि सभा ने मेरा निवेदन न माना तो उक्त सभा के पद से अलग हो जाऊंगा ।" मोलाना मुहम्मद अली ने उल्लेमाओं के पैरों में टोंपी रखकर प्रार्थना की कि वे अपने प्रचारकों को वापिस बुलालें । परन्तु वे नहीं माने और शान्ति-सभा बिना किसी परिणाम पर पहुंचे ही भंग हो गई थी ।

१६२४ में बकरीद पर दिल्ली में वह दंगा हो गया, जिसकी चर्चा मैं इस लेख के आरम्भ में कर आया हूँ । उस दंगे के समाचारों ने देश के राष्ट्रीय नेताओं को उद्विग्न कर दिया, जिसका परिणाम वह एकता सम्मेलन था, जिस पर महात्मा जी ने अपना प्रसिद्ध २१ दिनों का उपवास किया था ।

महात्मा जी का एकता सम्बन्धी लेख

यहाँ प्रसंगवश मैं महात्मा जी के हिन्दू-मुस्लिम एकता सम्बन्धी लेख की चर्चा भी कर देना चाहता हूँ, जो यंग-इण्डिया में प्रकाशित हुआ था। उस में महात्मा जी ने हिन्दू-मुस्लिम विरोध के कारणों पर विचार करते हुए जिस शैली का अनुसरण किया था,उस से सम्भव है,मुस्लिम संसार पर उन की उदारता का सिक्का जमा हो, परन्तु भारत की राजनीति और सामाजिक दशा पर उस का बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा। उस लेख में महात्मा जी ने कुरान और इस्लाम की खूब प्रशंसा की और सत्यार्थप्रकाश और उस के मानने वालों के लिए बहुत तिरस्कार-सूचक शब्दों का प्रयोग किया। पिता जी (स्वामी श्रद्धानन्द जी) पर तो उस लेख में विशेष कृपा की गई थी, यह मेरा ही नही, प्रायः सभी हिन्दू हृदय रखने वाले भारत-वासियों का मत था, कि महात्मा जी ने उस लेख में स्वामी जी के सम्बन्ध में जो पक्षपात-पूर्ण आलोचना की थी, उस ने देश के साम्प्रदायिक वातावरण में बहुत ही विषैला धुआं फैला दिया।

मेरा विचार है कि महात्मा जी ने भी अपना लेख प्रकाशित हो जाने के पश्चात् यह अनुभव किया था कि वे उस लेख में आर्यसमाज और स्वामी जी के साथ अन्याय कर गये हैं। यंग इण्डिया में कई सम्पादकीय लेख लिख कर उन्होंने अपने

प्रारम्भिक लेख के असर को धोने की चेष्टा की परन्तु जो जहर फैल चुका था, वह दूर न हो सका। उस लेख के दो बुरे परिणाम हुए। एक तो यह कि देश के बिगड़े हुए वातावरण की मुख्य जिम्मेदारी मुख्यरूप से आर्यसमाज और स्वामी जी पर डाली गई, जो सत्य के सर्वथा विरुद्ध थी और दूसरा यह कि साम्प्रदायिक मुसलमानों को यह विश्वास हो गया कि महात्मा गाँधी हम से डरते हैं, हम चाहे कुछ करें, वे हमें अच्छा और दूसरों को बुरा कहेंगे।

आगामी १० वर्षों में भारत की राजनीति में जो अव्यवस्था आ गई, उस का मुख्य कारण वह दूषित मनोवृत्ति थी, जो यंग इण्डिया के एकता सम्बन्धी लेख से पैदा हुई।

—

बत्तीसवाँ परिच्छेद

एक नया अनुभव

इतना दुःखदायी और इतना सुखद

अब तक के इन संस्मरणों में मैंने निरन्तर प्रयत्न किया है कि मैं अपने व्यक्तित्व को कलम के पीछे छिपा कर रखूं। इस प्रयत्न से मुझे बहुत कुछ सफलता भी हुई है, परन्तु स्मृति-ग्रंथ के इस परिच्छेद में, जिसे मैं आज लिखने बैठा हूँ, मुझे

थोड़ी-सी अपनी बात कहनी पड़ती है। परिच्छेद को पढ़ जाने पर पाठक मान जाएंगे कि यदि मैं ऐसा न करता तो वह बात स्पष्ट न होती जो मैं सुनाना चाहता हूँ।

यह एक सचाई है कि पिता जी के जीवनकाल में मैं सदा उन का अनुयायी रहा। कभी-कभी स्थान की दृष्टि से अधिक दूरी हो जाने पर भी मानसिक दृष्टि से सदा समीपता रही। आर्यसमाज के क्षेत्र में हों या कांग्रेस के क्षेत्र में, मैं उन के दांयें या बांयें दिखाई देता था।

इस बीसवीं सदी में पुराने और नये का संघर्ष एक नियम सा बन गया है। बेटा जवान होते ही बाप को, और शिष्य किताब पढ़ने की योग्यता होते ही गुरू को पुराने ढर्रे का बुड्ढ़ा या खूंसट समझने लगता है। इतनी दूरी तक न जाय तो भी उस की यह भावना तो हो ही जाती है कि पुरानी दुनियाँ ना-समझ थी, इस कारण पिता या गुरु की बात मानना जरूरी नहीं। पिता और गुरु, बेटों और शिष्यों की इस भावना से अपरिचित नहीं रहते, जिस का परिणाम यह होता है कि दोनों के मध्य में एक खाई बन जाती है, जो समय के साथ-साथ अधिक गहरी और चौड़ी होती जाती है।

ऐसी दुनियाँ में, लगभग सारी युवावस्था में मानसिक दृष्टि से अपने पिता और गुरु के निरन्तर समीप रह सकना वस्तुतः बड़े आश्चर्य की बात है। मैं स्वयं इस बात को सोच

कर आश्चर्यित होता हूँ कि स्नातक बनने के पश्चात् लगभग १५ वर्ष के क्रियात्मक जीवन में मैं बिना किसी व्यवधान के पिता जी का अनुयायी कैसे रह सका ?

यदि ऐसा होता कि मैं सदा पिता जी से सहमत ही रहता तो अनुयायी रहने में आश्चर्य की कोई बात नहीं थी। धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्र में मेरी और पिता जी की प्रवृत्तियों में में कई बहुत बड़े भेद थे। वह स्वभाव से श्रद्धा-प्रधान भावुक व्यक्ति थे, मैं स्वभाव से तर्क-प्रधान ठंडा प्राणी हूँ। उन्हें किसी परिणाम पर पहुँचने में और उस के अनुसार बड़े से बड़ा कदम उठाने में क्षण भर की भी देर नहीं लगती थी। मैं किसी निश्चय पर पहुंचने में बहुत धीमा हूँ और फिर उस के अनुसार लम्बी छलांग लगाने में और भी अधिक समय लेता हूँ। उन के हर एक विचार में कट्टरता थी, मुझ में उस का अभाव है। इतनी मौलिक भिन्नताएँ होते हुए भी १५ वर्ष के निज़ और सार्वजनिक जीवन में बाप बेटे का निरन्तर साथ रह सकना वस्तुतः एक अद्भुत वस्तु थी।

इस अद्भुत वातावरण का कारण जानने के लिए थोड़े से आत्म-विश्लेषण की आवश्यकता है। मैं सदा पिता जी से सहमत—यह तो मैं किसी दशा में भी नहीं कह सकता। प्रकृति भेद के कारण शायद अधिकतर बाह्य विषयों पर मैं उन से न्यूनाधिक असहमत ही रहता था, तो भी मैं उन के दायरे से

बाहिर न निकला, इस का मैं एक ही कारण समझता हूँ। मैंने असहमत हो कर और बहुत सा प्रयत्न कर के जब कभी उस दायरे की दीवार को लांघने का प्रयत्न किया, तो देखा कि वह दीवार अभी और दूर है, और वह दायरा अभी और विशाल है, लांघने का कोई अवसर ही नहीं आता था। उन की विशालता से मैं हार जाता था। पिता जी से असहमत हो कर रस्सी तुड़ाने की नौबत नहीं आती थी, क्योंकि वह रस्सी असीम थी। जो व्यक्ति उन के समीप रहे, वे सभी अनुभव करते थे कि उन का हृदय का घेरा बहुत विस्तृत था, वह देश और जाति की सीमाओं से सीमित नहीं था। ऐसे घेरे में से इच्छा रहते भी कैसे निकला जा सकता था।

घटना

मैंने जो विश्लेषण यहाँ किया है, उसे निम्नलिखित घटना स्पष्ट कर देगी। १९२६ में कौन्सिलों के नए चुनाव हुए। कांग्रेस ने अपने उम्मीदवार खड़े किये। इधर पं० मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय ने हिन्दू हितों की रक्षा के लिये नेशनलिस्ट पार्टी की योजना को और कई प्रान्तों में, काँग्रेस के विरोध में, अपने उम्मेदवार खड़े किये गये। पिता जी मुख्य रूप से राजनीतिक व्यक्ति नहीं थे। हाँ, राजनीति उन के धर्म का एक भाग अवश्य थी। उन का 'राजनीति' सम्बन्धी धर्म महात्मा गांधी के समानान्तर था। जब नेशनलिस्ट पार्टी की

की स्थापना हुई, और मालवीय जी और लाला जी ने हिन्दू हितों के नाम पर स्वामी जी से सहयोग माँगा तो एक विचित्र परिस्थिति पैदा हो गई। कई दिनों तक विचार संघर्ष जारी रहा। पिता जी काँग्रेस की साम्प्रदायिक नीति से असहमत थे। वह इस परिणाम पर पहुँच चुके थे कि उस समय काँग्रेस हिन्दू-हितों को दबा कर मुसलमानों को सन्तुष्ट रखना चाहती है। पिता जी का मत था कि इस नीति से भारत की साम्प्रदायिक समस्या सुलझने के स्थान पर और अधिक उलझेगी, क्योंकि अन्याय के आधार पर किया गया समझौता कभी स्थायी नहीं होता। दूसरी ओर साम्प्रदायिक संस्था की ओर से राजनीतिक चुनाव लड़ने, और काँग्रेस का विरोध करने से वह सहमत नहीं थे। कई दिनों तक पिता जी के हृदय में समुद्र-मन्थन जारी रहा जिस के एक-एक उतार-चढ़ाव को देखने का मुझे अवसर मिला। बात यह थी कि १९२६ के चुनाव ने राष्ट्रवादियों के घरों तक में विचार संघर्ष उत्पन्न होने वाली फूट के बीज बो दिये थे। मैं चुनाव में काँग्रेस का पूरा सोलहों आने समर्थक था, और मेरे कुछ साथी, जो अब तक मेरे साथ सौ फीसदी सहमति रखते थे, नैशनलिस्ट पार्टी के समर्थक बन गये थे। पिता जी को मालवीय जी, लाला जी और वह नौजवान साथी नैशनलिस्ट पार्टी के समर्थन में खड़ा करना चाहते थे। स्वभाव से मैं उनके प्रयत्नों की काट

करता रहता था। अन्त में मामला यहाँ तक गम्भीर समझा गया कि लाला जी को तार देकर लाहौर से बुलाया गया, और मेरी जिद को तोड़ने के लिए लाला जी की उपस्थिति में पिता जी के पास मुझे बुला कर पेश किया गया। लाला जी ने मुझे बहुत कुछ समझाया। मैं उन्हें पिता जी के समान मानता था, मैंने आदर-पूर्वक उनकी बात सुनी, और विनय-पूर्वक अपना निवेदन किया। अन्त में लाला जी ने मुझ से जो कहा उसका अभिप्राय निम्नलिखित था—

'इस समय प्रत्येक हिन्दू का कर्तव्य है कि वह चुनाव में नैशनलिस्ट पार्टी के उम्मीदवारों की मदद करे। दिल्ली की ओर से कांग्रेस ने मि. आसफअली को खड़ा किया है। नैशनलिस्ट पार्टी लाला शिवनारायण का समर्थन कर रही है। तुम्हें मालूम होना चाहिए कि स्वामी जी ने लाला शिवनारायण का समर्थन करना स्वीकार कर लिया है, और हमें इजाजत दे दी है कि हम उन के समर्थकों में स्वामी जी का नाम भी दे दें। तुम से मैं उम्मीद करता हूं कि तुम अब मि. आसफअली का समर्थन छोड़ दोगे अन्य कोई कारण नहीं, तो लिहाज के कारण ही तुम्हें अब कांग्रेस का समर्थन न करना चाहिए।

मेरे सामने बहुत बड़ा धर्मसंकट था। लाला जी और स्वामी जी दोनों को मैं पूजा के योग्य मानता था। उन में से एक की बात को टालने की शक्ति भी मुझ में नहीं थी।

जब दोनों एक मत हों तो मैं क्या करूं ? पर जो लोग किसी सम्मति पर पहुंचने में देर लगाते हैं । वे उसे छोड़ते भी देर में हैं । मैं भी उन्हीं सुस्त ग्रादमियों में रहा हूं । मैंने लाला जी से निवेदन किया, मेरे लिए ग्राप की आज्ञा उतनी ही बड़ी है, जितनी बड़ी स्वामी जी की आज्ञा, परन्तु ऐसे मन्तव्य सम्बन्धी विषयों में मुझे स्वामी जी ने सदा स्वतन्त्र रखा है । इसी बल पर मैं ग्रपने मन्तव्य के अनुसार चलने का साहस करता रहा हूँ । मुझे आशा है, आप भी मुझे इतना अधिकार देंगे ताकि मैं अपनी ग्रात्मा के शब्द को अनसुना न करूँ । मेरा मन्तव्य है कि राजनीतिक चुनाव में काँग्रेस का समर्थन करना प्रत्येक भारतवासी का कर्तव्य है ।

मैंने देखा कि मेरी बातें सुन कर लाला जी के चेहरे पर क्रोध का चिह्न नहीं दिखाई दिया, प्रत्युत उन्होंने हल्के से ग्रभिमान मिश्रित संतोष के साथ स्वामी जो की ओर देखा । स्वामी जी ने मुस्करा कर कहा, 'हाँ, इन्द्र ठीक कहता है । मैंने इसे विचार और कार्य की पूरी स्वतन्त्रता दे रखी है ।' लाला जी और पिता जी दोनों ही ग्रत्यन्त भावुक थे । लाला जी ने भरे हुए गले से कहा—

इन्द्र, जो ग्रधिकार तुम्हें स्वामी जी ने दे रखा है, उसे मैं कैसे छीन सकता हूँ । तुम ग्रपने विचार के ग्रनुसार कार्य करो, परन्तु याद रक्खो कि इस चुनाव में तुम्हें कामयाबी न होगी ।

हम दोनों लाला शिवनारायण के समर्थक हैं, मैंने प्रसन्नता-पूर्वक कहा, 'वह तो मैं भी समझता हूँ, परन्तु मैं प्रयत्न में कोई कसर नहीं छोड़ूंगा, सफलता ईश्वराधीन है।'

चुनाव खूब जोर से लड़ा गया। परिणाम ने दोनों ओर से आशावाद को व्यर्थ कर दिया। चुनाव में न कांग्रेस के उम्मीदवार सफल हुए और न नैशनलिस्ट पार्टी के उम्मीदवार। सफल हो गए एक तीसरे व्यक्ति, जिस ने हिन्दू हितों के नाम पर हिन्दू नेताओं को धता बतलाया था।

उस चुनाव के सिलसिले में मैं दिल्ली में भी घूमा और दिल्ली से बाहर गोरखपुर आदि में भी गया। प्रायः सभी जगह मुझे स्वतन्त्र डफली बजानी पड़ी। परन्तु किसी स्थान पर भी मैंने यह अनुभव नहीं किया कि मैं पिता जी के विशाल दायरे से बाहर जा सकता हूं।

वह चुनाव काण्ड मेरे लिये बहुत दुःखदायी था, क्योंकि उस में मुझे उन के विरुद्ध कार्य करना पड़ा जिन्हें मैं पूज्य मानता था। परन्तु साथ ही सन्तोषप्रद भी हुआ, क्योंकि उस ने मुझे पिता जी के हृदय की विशालता को पूरी तरह अनुभव करने का अवसर दिया।

चुनाव के प्रसंग में मैं जहाँ भी गया, वहाँ पिता जी और लाला जी के हस्ताक्षरों वाले पोस्टर मेरे सामने रख दिये जाते थे और पूछा जाता था कि आप स्वामी जी के विरोध में

धर्म की सेवा के काम आ सके। ऐसे ही भाव उस दिन भी पिताजी ने प्रकट किये। इस पर हम सब ने निवेदन किया कि अब तो कोई खतरे की बात नहीं है। डा० अन्सारी ने भी कह दिया है कि रोग जा चुका है, कुछ ही दिनों में आप सर्वथा स्वस्थ हो जायेंगे। पिताजी ने मुस्कराकर जो उत्तर दिया, उसका आशय यह था कि होगा तो वही जो भगवान् चाहेंगे, मैं तो केवल अपनी इच्छा प्रकट कर रहा हूँ।

थोड़ी देर तक बातचीत करने के पश्चात् हम लोग उठ गये, क्योंकि पिताजी के नित्य कर्म से निवृत होने का समय हो गया था। केवल उनका सेवक धर्मसिंह उनके पास रहता था। उसने चारपाई के पास कमोड रख दिया, पिताजी स्वयं उठ कर शौचादि से निवृत्त हुए, और फिर चारपाई पर लेट गये। हम लोग बलिदान-भवन के दूसरे हिस्से में थोड़ी देर बातचीत करके अपने-अपने स्थानों को चले गये।

मैं घर आ कर चारपाई पर बैठा ही था कि बच्चा भागता हुआ आया और उसने घबराये हुए स्वर में कहा—दादा जी को किसी ने गोली मार दी। घर के सब लोगों ने अचम्भे और अविश्वास से उसकी बात को सुना, क्योंकि मैं उन्हें पिताजी के स्वाथ्य की सन्तोषजनक उन्नति होने के समाचार सुना रहा था। यह समझ कर कि बच्चे ने बात समझने में भूल की है, मैंने उससे पूछा—'तूने यह किससे सुना' उसने उत्तर

दिया–'आप पूछ लीजिये' सड़क पर जीवनलाल जी बहुत ही घबराई आवाज में मुझे पुकार रहे थे। मुझे देख कर वे बोले—स्वामी जी को किसी ने गोली मार दी।

मैंने पूछा—गोली मारने वाला पकड़ा गया या नहीं ?

जीवनलाल जी गोली की आवाज सुनकर सड़क पर ऐसी खबर देने के लिये भाग आये थे, उन्होंने उत्तर दिया, 'यह तो पता नहीं शायद भाग गया हो।'

समाचार सुनकर मेरे पाँव तले से जमीन निकल गयी। परन्तु समाचार के मानने और समझने में देर नहीं लगी, ऐसी आशंका तो कुछ दिनों से हो ही रही थी। इतने में घर के और लोग आगे छज्जे पर पहुंच गये, और पूछने लगे कि क्या बात है मैंने कोई उत्तर नहीं दिया—और यह कहकर कि 'मैं स्वयं देख कर आता हूँ क्या बात है।' नंगे पांव सीढ़ियों से उतर गया। पीछे, घर के अन्य लोग—मेरी पत्नी, और सभी चल पड़े।

मैं भागता हुआ भवन के नीचे पहुंचा तो देखा कि कुछ आदमी इकट्ठे हो गये हैं, और दो चार ऊपर भी जा चुके हैं। मुझे देखकर सभी तरह-तरह के प्रश्न पूछने लगे, पर मैं किसी का भी उत्तर दिये बिना ही ऊपर चढ़ गया। वहां जा कर अन्दर घुसते ही मेरी पहली नजर पिताजी की चारपाई पर पर पड़ी, पिताजी की आँखे बन्द थीं, मानो सुखपूर्वक सोये हों।

सामने भगवे कुर्ते पर रक्त दिखाई दे रहा था, जो असली घटना की सूचना दे रहा था, अन्यथा पिता जी को देख कर एक दम यह अनुमान नहीं लग सकता था कि वे सजीव नहीं है।

दूसरी नजर सेवक धर्मसिंह पर पड़ी। वह कमरे के मध्य में जाँघ को हाथ से दबाये पड़ा था। उस के चारों ओर खून फैला हुआ था, मैंने पूछा—'धर्मसिंह तुम्हारे भी गोली लगी है ?'

धर्मसिंह ने उत्तर दिया—'हाँ, पंडित जी, मेरे भी गोली लगी है। पर आप मेरी चिन्ता न करो, स्वामी जी को कई गोलियाँ लगी हैं, उन्हें सम्भालिये।' मैं तब तक पलंग के पास पहुँच चुका था। मैंने पिताजी की कलाई और माथे पर हाथ रखा, तो उसे बिल्कुल ठण्डा पाया। उसी समय मेरी दृष्टि पलंग के पीछे कमरे के कोने में जमीन पर औंधे मुंह लेटे हुए स्नातक धर्मपाल जी पर पड़ी। मैंने पूछा—

'धर्मपाल जी क्या आप के भी गोली लगी है ?'

उन्होंने उत्तर दिया—

'मैंने गोली मारने वाले को दबा रखा है।'

मैंने घबरा कर पूछा—

'क्या सहायता के लिये आऊँ ?'

उन का उत्तर था—

'आप इस की चिन्ता न करें इसे मैं नहीं छोड़ूंगा। आप स्वामी जी को संभालिये।'

उस परिस्थिति में मेरा दिमाग कैसे ठिकाने रहा, मुझे इसी बात पर आश्चर्य है, इस समय बहुत से और महानुभाव भी वहाँ पहुँच चुके थे। वे भी विचार में भाग ले रहे थे। पहला काम यह किया गया कि डा० अन्सारी को टेलिफोन द्वारा बुलाया गया और दूसरा काम यह हुआ कि कोतवाली में दुर्घटना की सूचना दी गई।

यह प्रबन्ध हो ही रहा था कि कमरे के दरवाजे पर हल्ला मच गया। मैं भाग कर दरवाजे पर गया तो देखता क्या हूँ कि हमारा स्वयंसेवक राजाराम हाथ में लम्बा चाकू लिये अन्दर घुसने की चेष्टा कर रहा है, और उसे बा० धनीराम जी (मेरे बहनोई) दोनों हाथों से पकड़ कर रोक रहे हैं, कुछ लोग कह रहे थे, इसे अन्दर जाने दो, और कुछ लोग उसे शान्त कर रहे थे। पूछने पर राजाराम ने कहा—मैं उस पापी को मार कर छोड़ूंगा, मुझे मत रोको, नहीं तो एक जगह कई खून हो जायेंगे। मैंने जा कर राजाराम का चाकूवाला हाथ पकड़ लिया। वह मुझे देख कर चिल्लाया—पंडित जी, आप भी मुझे रोक रहे हैं। हमारे जीते जी उस ने स्वामी जी के गोली मार दी—हम उसे अभी मार कर छोड़ेंगे।'

मैंने उसे समझाया कि यदि तुम उसे अभी मार दोगे तो इस का कोई प्रमाण न रहेगा कि वह हत्यारा है, और संसार पर सचाई प्रगट न होगी। यह समय शांत रहने का है, घबराने का नहीं। यह नहीं कि हमारे जोश के कारण पापी का पाप हमारे ही सिर लगा दिया जाय।

राजाराम खूब गठे हुए शरीर का, लम्बा चौड़ा नौजवान था। उस के चेहरे से बहादुरी टपकती थी। वह ट्राम्बे के दफ्तर में चौकीदारी करता था, परन्तु उस की नौकरी जाति सेवा के काम में कभी बाधक नहीं होती थी, बिलकुल निर्भय, सुन्दर डीलडौल के उस सच्चे नौजवान को देख कर हृदय में अभिमान पैदा होता था, कभी किसी बड़े से बड़े खतरे के काम की आज्ञा मिलने पर मैंने उसे क्षण भर के लिए भी सोचते या घबराते नहीं देखा, आज्ञा मिलते ही मैदान में कूद पड़ना—यह राजाराम का स्वभाव था। मैंने उस समय राजाराम की आँखों में रक्त बरसता देखा तो अन्य कोई उपाय न पा कर जोरदार स्वर से आज्ञा दी—

'राजाराम क्या कर रहे हो, क्या आज्ञा का उल्लंघन करोगे ? चले जाओ यहां से।'

राजाराम का हाथ ढीला हो गया, उस ने एक बार खून भरी आँखों से उस कोठरी की ओर देखा, जहाँ धर्मपाल जी के दाहिनी शिकंजे में पड़ा हुआ हत्यारा फड़फड़ा रहा था।

वह जिस वेग से ऊपर चढ़ा था, उसी वेग से धड़धड़ाता हुआ सीढ़ियों से उतर गया। सच्चा सिपाही आदेश का उल्लंघन न कर सका।

राजाराम वहाँ से तो चला गया, परन्तु उस का क्रोध शांत न हुआ, उस के पश्चात् दस मिनट के अन्दर ही अन्दर नये बाजार में तीन आदमी घायल हुए, जिन में से एक जान से मर गया। इस हत्या के अपराध में जिन तीन नौजवानों पर मुकदमा महीनों तक चलता रहा—अन्त में सब अभियुक्त बरी कर दिये गये।

बेचारा राजाराम हवालात में बीमार हो गया था, बाहर आ कर उस की देह संभल न सकी—गिरती ही गयी, अन्त में वह बाँका जवान असमय में ही जेल में लगी हुई बीमारी का ग्रास बन गया।

इतने वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी जब कभी मैं राजाराम को याद करता हूँ तो मेरे सामने उस की चढ़ी हुई मूँछों वाला बहादुर चेहरा जीवित रूप से आ जाता है।

डा० अन्सारी और पुलिस को साथ ही साथ टेलिफोन किया गया था, पर डाक्टर साहब पहले ही आ पहुँचे। डाक्टर साहब अकेले नहीं आये, डा० अब्दुर्रहमान को साथ लेते आये थे। इस अन्तिम बीमारी में पिता जी का इलाज डा० अन्सारी ही कर रहे थे, और जब कभी उन्हें दिल्ली से

बाहिर जाना पड़ता था तब वह अपना स्थानापन्न डा० अब्दुरहमान को बना जाते थे।

जब डाक्टर साहब को बुलावा पहुँचा, तब उन्होंने यही समझा कि शायद निमोनिया ने अपना उग्रतम रूप धारण कर लिया है। जिस से घबरा कर डाक्टर को बुलाया गया है। १९१९ से पिता जी का डाक्टर अन्सारी से परिचय हुआ था। तब से अन्तिम समय तक पिता जी को सिवाय डा० अन्सारी के और किसी चिकित्सक का इलाज अनुकूल नहीं पड़ता था। पिता जी की अवस्था इतनी बढ़ गई थी कि जब निमोनिया के दिनों में डाक्टर जी को चार दिन के लिए भोपाल जाना पड़ा, तो पिता जी ने दूसरे डाक्टर से दवा ही नहीं ली। चार दिन तक इलाज केवल मेक-प्लास्टर और परहेज तक ही परिमित रहा। जब डाक्टर साहब भोपाल से वापिस आये तब दवा ली। इस अटल श्रद्धा का श्रेय श्रद्धालु को दें या श्रद्धा के पात्र को, इस प्रश्न का उत्तर यह हैं कि वह श्रेय दोनों में समान रूप से बँटना चाहिये। पिताजी जिसमें श्रद्धा रखते थे, अटल रखते थे, और डा० अन्सारी से जिसने एक बार इलाज करवा लिया, उसे दूसरा दरवाजा सुहाता ही नहीं था।

हां, तो जब डाक्टर अन्सारी बलिदान-भवन में पहुँचे तो आश्चर्य और दुःख से स्तब्ध रह दरवाजे में घुसते ही सारे दृश्य को देख कर परिस्थिति को समझने की चेष्टा करते रहे—

कुछ देर तक जहाँ के तहाँ खड़े रह गये—मानों पाँव भूमि में गड़ गये हों। फिर आगे बढ़ कर पिता जी की नब्ज देखी—माथे और पेट को छुआ—आँखों के पर्दे पलट कर देखे और जो कुछ आवश्यक समझा देखा भाला, और अन्त में आँसू भरी आँखों से मेरी ओर देख कर कहा—

भाई, अब तो कुछ बाकी नहीं रहा, गोली सीधी छाती में लगी है। मृत्यु फौरन ही हो गई प्रतीत होती है, फिर डाक्टर जी धर्मसिंह की ओर मुड़े, और उसके घाव पर पट्टी बाँधने लगे।

इतने में पुलिस आ पहुंची। एक इन्सपैक्टर, दो सब इन्सपैक्टर और बहुत से सिपाही बड़ी टट फट के साथ मैदान में उतरे, मानो जंग के लिये तैयार हो कर आये हों। अनहोनी हो जाने पर शान दिखाना यह हिन्दुस्तानी पुलिस की विशेषता है।

उस समय तक—और वह समय आध घंटे से कम न होगा—धर्मपाल जी खूनी को दबाये पड़े रहे। खूनी के जिस हाथ में भरा हुआ पिस्तौल था, उसे धर्मपाल जी ने एक हाथ से दबा रखा था, दूसरे हाथ से उसके सिर को फर्श में खूंटे की तरह गाड़ रखा था, और उसकी पीठ पर अपनी छाती का पूरा जोर दे कर लेटे हुए थे। कई लोगों ने बीच-बीच में सहायता के लिये हाथ बढ़ाया। उन सबको धर्मपाल जी ने दूर से

हटा दिया। यह बिल्कुल ठीक था कि यदि हत्यारे पर धर्मपाल जी का शिकंजा कुछ भी ढीला पड़ जाता तो वह न जाने कितना अनर्थ कर के भाग निकलता।

सर्व साधारण को धर्मपाल जी के उस धैर्य और बल को देख कर बहुत आश्चर्य हुआ था—पर जो लोग उन्हें बचपन से जानते थे उन्हें कुछ भी आश्चर्य नहीं हुआ, विद्यार्थी अवस्था में ही साथियों पर उनकी शारीरिक दृढ़ता का आतंक था। उसके बड़े दुर्भाग्य उदित हुए समझो जो फुटबाल के मैदान में हाफ-बैक धर्मपाल के सामने पड़ जाय। यदि हाफ-बैक की लात सामने के खिलाड़ी की लात पर जा लगी तो मेजर एक्सीडेंट (भयानक दुर्घटना) का हो जाना अनिवार्य था। या तो हड्डी टूट जाती थी, अथवा टाँग पर गेंद जैसा गोला सूज आता था। यह बिल्कुल आकस्मिक था, कि अब्दुल रशीद का वास्ता धर्मपाल जी जैसे ठोस आदमी से पड़ा—परन्तु विधाता की इच्छा प्रायः ऐसी घटनाओं से पूरी होती हैं जिन्हें मनुष्य आकस्मिक कहता है। यह विधाता का विधान था कि पिताजी के बलिदान का कानूनी सबूत लाल हाथों के साथ ही गिरफ्तार हो। यह काम धर्मपाल जी जैसे व्यक्ति के हाथों से ही हो सकता था।

सच्चे और पक्के साथी मैंने बहुत देखे हैं, परन्तु धर्मपाल की अपेक्षा अधिक ठोस बात निभाने वाला संगी अब तक मेरे

अनुभव में नहीं आया, वह पिताजी के शिष्य भी थे, और निजू मन्त्री भी—परन्तु वह सारा आध्यात्मिक सम्बन्ध था, घर से खर्च मँगा कर निर्वाह करते थे और धर्म-भाव से पिताजी की सेवा करते थे। उन्हें उस घटना से जो यश प्राप्त हुआ, वह वस्तुतः उसके अधिकारी हैं।

—

चौंतीसवाँ परिच्छेद

बलिदान

पुलिस अफसरों ने कमरे में पहुँच कर काफी चुस्ती से काम किया। पिता जी की मृत्यु का प्रामाणिक समाचार तो उन्हें वहाँ पहुँचते ही डा० अन्सारी से मिल गया था, एक सब इन्सपैक्टर धर्मसिंह की ओर झुका और दूसरा धर्मपाल जी की ओर, उस ने क्षणेक ध्यान से देख कर स्थिति को समझ लिया और धर्मपाल जी से कहा कि जब तक मैं न कहूँ, तब तक शिकंजे को ढीला न कीजियेगा। तब उस ने अपना रिवाल्वर हत्यारे के माथे पर रख कर कहा—'खबरदार, अगर हिला तो गोली छोड़ दूँगा' फिर फुलबूट वाला अपना दायाँ पाँव उस की कलाई पर बड़े जोर से मार कर दबा दिया, जब देख लिया कि कलाई बिलकुल ढीली हो

गई, तो बाँयें हाथ से उस का पिस्तौल पकड़ कर धर्मपाल जी से छोड़ देने को कहा, हाथ छोड़ देने पर हत्यारे का पिस्तौल सब इन्सपेक्टर के हाथ में आ गया। तब सब इन्सपेक्टर ने धर्मपाल जी को हत्यारे को छोड़ कर उठ जाने के लिये कहा।

वहाँ जितने व्यक्ति थे, सब उस दिन-दहाड़े हत्या करने वाले व्यक्ति को देखने के लिए अत्यन्त उत्सुक थे, दर्शकों ने अपनी भावना के अनुसार उस का कल्पनाचित्र मन में बना रखा था। पीछे से इस विषय में प्रायः सर्व सम्मति पाई गई कि जब हत्यारा उठ कर खड़ा हुआ, तब उस की सूरत शक्ल ने दर्शक लोगों के काल्पनिक चित्रों को सर्वथा झूठा सिद्ध कर दिया। वह किसी हट्टे-कट्टे भयानक रूप वाले खूनी को देखने की आशा रखते थे, परन्तु जब देखा तो एक ऐसा अधेड़ सामने खड़ा पाया, जिस का शरीर मध्यम था। दाढ़ी-मूंछ के बाल पक रहे थे, देखने में अदालत का मुहर्रिर मालूम पड़ता था। पीछे से मालूम हुआ कि उस का नाम अब्दुलरशीद था और वह किताबत का काम करता था।

अब्दुल रशीद ने उठकर चारों ओर देखा तो उस की नजर डा० अन्सारी पर पड़ी, कह नहीं सकते कि उस की वह अदा स्वाभाविक थी या कृत्रिम। वह डाक्टर जी को देख कर मुस्कराया और काफी ऊँचे स्वर से उसने कहा, डाक्टर साहिब, आदाबअर्ज। उस आदाबअर्ज में किसी पहली मुलाकात की

झलक आती थी। बाद में तहकीकात करने पर मालूम हुआ कि अब्दुल रशीद ने अपने खूनी संकल्प की सूचना बहुत से प्रतिष्ठित मुसलमानों को दे रखी थी। उनमें से कुछ ने उन्हें रोका, और कुछ ने प्रोत्साहित किया। डाक्टर साहब उन में से थे, जिन्होंने उसे रोका था। वह कई महीनों से विधि-पूर्वक नृशंसता की तैयारी कर रहा था। इस कार्य के समर्थन में उसने उल्माओं का फतवा तक ले लिया था।

इतनी हल्की सी मुस्कराहट के पश्चात् अब्दुल रशीद के चेहरे पर एक गम्भीर मुर्दनी छा गई। वह उसके चेहरे का स्थायी भाव था, जो तब तक कायम रहा, जब तक वह जेल में फाँसी की रस्सी से झूल कर कर्मफल पाने के लिये बड़े दरबार में नहीं चला गया।

उस दिन बलिदान-भवन में जो अमर कहानी रुधिराक्षरों से लिखी गई, उसे यहां दुहराने की आवश्यकता नहीं। वह बलिदान के विस्तृत इतिहास का एक परिच्छेद है। और यह मेरी निजू स्मृतियों का संकलन है। गोलीकांड के पश्चात् बलिदान-भवन में मैंने जो कुछ देखा मैं वह सुना रहा हूँ।

डा० अन्सारी अपने लिये अन्य कोई कार्य न देखकर और उस स्थान के वातावरण को अत्यधिक गर्म होता अनुभव कर के चले गये। पुलिस की एक टुकड़ी अब्दुल रशीद को हथकड़ी बेड़ी डाल, और लारी में बिठा कर कोतवाली ले गई,

और दूसरी टुकड़ी बलिदान-भवन के पहरे पर तैनात कर दी गई। इस समय वहां पुलिस के कई ऊंचे अफसर पहुंच चुके थे, और बयान लिये जाने लगे थे।

यह स्वाभाविक ही था कि ऐसी भयंकर साम्प्रदायिक दुर्घटना से उस स्थान पर और धीरे-धीरे सारे शहर में साम्प्रदायिक विद्वेष की अग्नि प्रचण्ड हो उठती। वह घटना साधारण नहीं थी। ३० करोड़ व्यक्तियों के एक सर्वसम्मानित धर्माचार्य की, दूसरे मत के अनुयायी द्वारा केवल धार्मिक मतभेद के कारण हत्या इतिहास में प्रति दिन नहीं होती। वह कभी-कभी होती है, और जब कभी होती है, तब इतिहास में नये युग का आरम्भ हो जाता है। इस दुर्घटना ने भी भारत के इतिहास में एक नया युग आरम्भ कर दिया था। हत्या के पश्चात् थोड़े ही क्षणों में बलिदान-भवन से फैल कर एक आधे घन्टे के अन्दर-अन्दर दिल्ली शहर में, और शायद दो वा तीन घन्टों में सारे देश में उस आये हुए युग की सरसराहट सुनाई देने लगी थी। संसार में कभी कोई वस्तु सर्वथा निर्गुण या निर्दोष नहीं होती। जो नया युग एक मजहबी पागल की घिनौनी चेष्टा के कारण पैदा हो वह निर्दोष होता भी कैसे? उस नये युग के भी दो पहलू थे—एक बुरा और एक अच्छा। बुरा पहलू यह था कि हिन्दू-जाति के एक बड़े भाग में एक अद्भुत जाग्रति ने जन्म लिया।

पहला फल अब्दुलरशीद की दुष्टता का था। अच्छी क्रिया की अच्छी, और बुरी क्रिया की बुरी प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। इस लिये केवल विवेचनात्मक दृष्टि से देखें तो उस सन्ध्या समय की दुर्घटना से हिन्दू-जाति पर जो अच्छे और बुरे प्रभाव पड़े वह सर्वथा स्वाभाविक थे। उन पर प्रसन्न होना, या दुखी होना अपनी तबियत का परिणाम हो सकता है, परन्तु उन की स्वाभाविकता में शायद ही कोई मतभेद हो।

संस्मरण के इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व मैं दो तीन आपबीती चीजें पाठकों को और सुना देना चाहता हूँ। जिस समय इधर अब्दुल रशीद अपनी मूर्खता भरी चेष्टा से इस्लाम के माथे पर कलंक का टीका लगा रहा था, उधर गोहाटी में अखिल भारतीय राष्ट्रिय महासभा के अधिवेशन की तैयारियाँ हो रही थीं। स्वागताध्यक्ष महोदय ने पिता जी को एक निजू पत्र लिख कर विशेष आग्रह से महासभा के अधिवेशन में निमन्त्रित किया था। उस पत्र का उत्तर पिता जी की आज्ञा से मैंने ही दिया था। उस में अस्वस्थता के कारण न जा सकने पर दुःख प्रगट करते हुए अधिवेशन की सफलता के लिये ईश्वर से प्रार्थना की गई थी। पत्र पहुँचने पर स्वागताध्यक्ष ने एक तार द्वारा सन्देश की प्रार्थना की। वह सन्देश का तार भी पिता जी के आदेश के अनुसार मैंने

ही लिखा था। मैं केवल स्मृति से उस तार को उद्धृत कर रहा हूं। इस में किसी शब्द का भेद हो सकता है, अभिप्राय का नहीं, तार यह था—

On Hindu-Muslim unity depends future wellbeing of India.

भारत का भावी सुख हिन्दु-मुस्लिम एकता पर आश्रित है।

यह सन्देश निमोनिया की उग्र दशा में प्रभात की शान्त वेला में बीमार की चारपाई पर से लिखवाया गया था। इस कारण मान लेना चाहिये कि यह सन्देश देने वाले की अन्तरात्मा का सन्देश था। स्नातक होने के पश्चात् लगभग १६ वर्ष तक पिता जी के निरन्तर समीप रहने पर मुझे जो अनुभव हुआ उसके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि उपर्युक्त सन्देश पिता जी की अन्तरात्मा का संदेश था। वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के कट्टर पक्षपाती थे, परन्तु साथ ही उन का यह भी विश्वास था कि वह एकता तब तक जन्म नहीं ले सकती, जब तक हिन्दूजाति के निर्बल हिन्दू सबल मुसलमानों के मित्र नहीं बन सकेंगे। इस कारण वे हिन्दुओं को मुसलमानों के समान मित्र बनाने के पक्षपाती थे। उनके हिन्दू-संगठन का अभिप्राय मुस्लिम विरोधी नहीं था—अपितु जाति के आंतरिक दोषों को दूर करना था।

मनुष्य के लिए सब से कठिन काम अपनी भावनाओं का

ठीक विश्लेषण करना है। एक प्रसिद्ध लेखक ने लिखा है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए दूसरे व्यक्ति का मन एक बन्द कमरा है जिस के अन्दर की असली दशा का वह केवल अनुमान लगा सकता है। अनुभव बतलाता है कि मनुष्य कभी-कभी अपने अन्दर की असली दशा का अनुमान भी नहीं लगा सकता, वह उसके लिए केवल बन्द कमरा ही नहीं, अभेद्य दुर्ग बन जाता है, जिसके अन्दर का अनुमान लगाना भी उसके लिए असम्भव हो जाता है। आत्म-विश्लेषण अन्य रासायनिक तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों की अपेक्षा कठिन कार्य हैं।

यही कारण है कि मुझ से जब एक मित्र ने पूछा, जब स्वामी जी का बलिदान हुआ तब आप को कैसे अनुभव हुआ ? मैं बहुत देर तक चुप रह कर सोचता रहा कि क्या उत्तर दूं, पाठक मेरा यह इकबाली बयान पढ़ कर आश्चर्यित होंगे, वह सोचेंगे कि इस प्रश्न का उत्तर तो निश्चित ही है, और वह यह कि 'मुझे अपार दुःख हुआ।' यह तो मैं कैसे कहूँ कि मुझे अपार दुःख नहीं हुआ, परन्तु जब आत्मविश्लेषण करके देखा तो केवल इतना उत्तर देने की हिम्मत नहीं पड़ी— क्योंकि उत्तर अधूरा होता, अपने अन्दर आँखें डाल कर भी ठीक-ठीक नहीं देख सका, कि उस असाधारण घटना ने मेरे हृदय और मस्तिष्क कर क्या-क्या और किस क्रम से प्रति-क्रियाएँ पैदा कीं।

समाचार सुनने का पहला असर मुझ पर यह हुआ कि ठीक परिस्थिति जानने की इच्छा पैदा हुई। यों दुर्घटना का समाचार मुझे बिल्कुल आकस्मिक या अनहोना प्रतीत नहीं हुआ। मानों किसी इस प्रकार के समाचार की तो प्रतीक्षा ही थी। इस के दो कारण थे, पहला कारण यह था कि लगभग दो वर्ष से पिता जी को मुसलमान समाचार पत्रों में छपी हुई, और डाक द्वारा बिना नाम के खुली हुई धमकियाँ दी जा रहीं थी। शुद्धि-सभा का प्रधान पद स्वीकार कर लेने के कारण धर्मान्ध मुसलमानों में पिता जी के प्रति क्रोध की भावना उत्पन्न की जा रही थी, जिसका प्रकाशन धमकियों के रूप में होता रहता था। इस असन्तोषाग्नि पर उन दिनों चलाये गये प्रसिद्ध शान्तिदेवी केस ने घी का काम दिया। केस चोटी से एड़ी तक बनावटी था। असगरी बेगम (शान्तिदेवी) को दिल्ली लाने, वनिता-आश्रम में प्रविष्ट कराने या धर्म-परिवर्तन कराने में पिता जी या अन्य किसी हिन्दू या आर्य कार्यकर्ता का हाथ नहीं था, परन्तु दिल्ली के कुछ मुसलमानों ने शान्तिदेवी के पिता और मुसलमान पति को प्रेरणा देकर बिलकुल झूठा मुकदमा दायर करवा दिया, जिस को दो-तीन पेशियों में ही असलियत प्रकट हो गई, और हम लोगों की निर्दोषता का अदालत ने फैसला कर दिया, परन्तु अदूरदर्शी मदान्ध लोगों ने जो विष बखेरा था वह

अपना काम कर गया। नासमझ मुसलमानों का पिता जी के प्रति विद्वेष भाव चरम सीमा तक पहुँच गया।

परिणाम यह हुआ कि वायुमण्डल सन्देह और आशंका से भर गया। पिता जी के मन में खतरे या खतरे की धमकी से सदा उल्टी ही प्रतिक्रिया उत्पन्न होती थी। वे खतरे से डरने की जगह, खतरे का सामना करने और उस पर हावी होने के लिए तत्पर हो जाते थे। हम लोगों की चिन्ता या सावधानता उन पर कोई प्रभाव नहीं डालती थी। कभी-कभी जब उन्हें सन्देह हो जाता था कि लोगों ने उनकी संरक्षा के लिए पहरा लगाया है, तो रात के समय चुपचाप अकेले बाजार में घूमने के लिए निकल जाते थे और लालकुआँ सदर बाजार आदि प्रमुख मुसलमान हिस्सों का चक्कर काट जाते थे। इन सब कारणों से हम लोग सदा शंकित रहते थे। कब क्या अनहोनी हो जाय, इस की मासों प्रतीक्षा करते रहते थे।

सो जब दुर्घटना का पहला समाचार मिला तो ऐसा अनुभव हुआ जैसे जो होनी थी, वह हो कर रही।

एक और भी बात थी, जिसने हमारे हृदयों को इस दुर्घटना के लिए तैयार सा कर दिया था। अपने सदा के स्वभाव के सर्वथा विपरीत, लगभग एक मास से पिता जी शरीरत्याग की चर्चा किया करते थे। यों स्वभाव से वह घोर

आशावादी थे—जैसा कि एक कट्टर आस्तिक को होना चाहिए। परन्तु बलिदान से लगभग एक घन्टा पूर्व ही उनकी बातचीत का रुख बदल गया था। मैंने उनकी बड़ी-बड़ी बीमारियाँ देखी थीं। वे कभी हारी हुई बात नहीं करते थे, हारी हुई बात करने वाले को ढाढस दे कर कहा करते थे, तुम चिन्ता क्यों करते हो? अभी धर्म की सेवा के लिए मेरे शरीर की आवश्यकता है, उसकी रक्षा परमात्मा करेगा। १६२६ के अन्त में जब उन पर निमोनिया का आक्रमण हुआ, उससे पूर्व ही उनकी भाषा में परिवर्तन आ गया था। नवम्बर के अन्त में वह लाहौर गये और गुरुदत्त-भवन में व्याख्यान दिया। सुनने वाले बतलाते हैं कि उस व्याख्यान में उन्होंने यह भाव स्पष्ट रूप से व्यक्त किया था कि सम्भवतः लाहौर में उनका यह व्याख्यान अन्तिम है, ऐसा ही भाव उन्होंने दो-तीन अन्य व्याख्यानों में भी प्रकट किया था।

रोगी होने पर तो वह प्रायः नित्य ही ऐसी बात करते थे, यों भाषा में कुछ भेद आ गया था।

बलिदान से दो दिन पूर्व व्याख्यान-वाचस्पति पं० दीनदयालु जी शास्त्री आपका स्वास्थ्य समाचार पूछने आये। कुशल समाचार पूछने पर आपने कहा डाक्टर कहते हैं अच्छा है, शास्त्री जी ने मुस्करा कर पूछा कि आपकी क्या सम्मति है?

पिताजी ने उत्तर दिया—'मेरी तो अब जीने की इच्छा नहीं है।' इस पर शास्त्री जी ने कहा—

'स्वामी जी, मुझ से मालवीय जी एक-डेढ़ वर्ष बड़े हैं, और आप उनसे एक वर्ष बड़े हैं। अभी हम लोगों को बहुत सा काम करना है। आप क्यों इतनी जल्दी मोक्ष की तैयारी करने लगे। अब तो आप राजी हो जाओगे।' पिताजी ने उत्तर दिया—

'पण्डित जी, इस समय मुझे मोक्ष की इच्छा नहीं, मैं तो चोला बदल कर दूसरा शरीर धारण करना चाहता हूँ। अब यह शरीर सेवा के योग्य नहीं रहा, इच्छा है फिर भारतवर्ष में ही पैदा हो कर फिर इसकी सेवा करूँ।'

२२ दिसम्बर के प्रातःकाल ५ बजे के लगभग पिताजी का सेवक धर्मसिंह मुझे घर बुलाने आया। उसी समय डा० सुखदेव जी को और लाला देशबन्धु जी को भी बुलाया गया था। हम सब के एकत्र हो जाने पर पिता जी ने कहा—'भाई, मेरी वसियत लिखा लो। इस शरीर का कुछ भरोसा नहीं। कब क्या हो जाय, यह भगवान् के सिवाय किसी को पता नहीं।'

उस दिन पिताजी की तबियत काफी अच्छी समझी जा रही थी। डा० अन्सारी ने पहले दिन कहा था कि अब कोई खतरा नहीं रहा। डा० सुखदेव जी ने निवेदन किया कि अब चिन्ता या घबराहट की कोई बात नहीं। आप शीघ्र ही बिल्कुल ठीक हो जायेंगे, हम लोग भी इस निवेदन में शामिल

हो गये, और यह समझ कर कि वसीयत लिखने का पिता जी के दिल पर बुरा असर न हो, लिखने में आनाकानी करने लगे। पिताजी इस बात से कुछ खिन्न से हो गए, और कहा–'अच्छा भाई, तुम्हारी मर्जी, पर मैं जो कुछ चाहता हूँ वह सुन तो लो। जब चाहो तब लिखा लेना।' हम लोग सुनने लगे। उस समय हम लोग चर्म के चक्षुओं से देखते थे। और पिता जी ज्ञान के चक्षुओं से। अन्यथा हम से ऐसी हिमाकत भरी भूल न होती कि हम उनके शब्दों को लेखबद्ध न करते। हम से इतनी बड़ी भूल हुई कि उसका मार्जन नहीं हो सकता। यह समझ कर कि रोगी को यह अनुभव न होने देना चाहिये कि उनकी दशा चिन्ताजनक है हम ने उस समय की बातों को पूरी तरह हृदयंगम नहीं किया। पीछे से स्मृति को ताजा करने पर निम्नलिखित बातें ध्यान में आईं—

आपने अपनी निम्नलिखित इच्छाएँ प्रकट की थीं—

१ मैं आर्यसमाज का इतिहास लिखना चाहता था। लिख नहीं सका, इन्द्र उसे लिख कर पूरा कर दे।

२ 'तेज' और 'अर्जुन' पत्र मेरी भावना के अनुसार चलते रहें।

३ गुरुकुल की रक्षा की जाय।

२३ दिसम्बर को बलिदान से कुछ ही समय पहले शुद्धि-सभा के प्रधान सर राजा रामपालसिंह के स्वास्थ्य सम्बन्धी तार के उत्तर में पिताजी ने जो तार दिलवाया था, उसमें

लिखा था कि अब तो यही इच्छा है कि दूसरा शरीर धारण कर इस जीवन के अधूरे काम को पूरा करूँ।

यही कारण था कि जब मुझे जीवनलाल जी ने स्वामी जी पर गोली चलने का समाचार दिया तब वह आकस्मिक नहीं प्रतीत हुआ। सुनकर ऐसा अनुभव हुआ कि यह तो होने वाला ही था—पर हुआ कैसे? अभी तो हम लोग उठ कर आये हैं, इतने में क्या हो गया?

जा कर देखा तो किंकर्तव्यता सामने आ गई। ध्यान उस ओर चला गया। शहर में बलिदान का समाचार हवा की तरह फैल गया, और श्रद्धानन्द बाजार में भीड़ इकट्ठी होने लगी। हरेक के दिल में दुःख था, और आँखों में जोश। जिसे देखता, वह इतना प्रभावित दिखाई देता कि जितना कोई सम्बन्धी भी नहीं हो सकता। मैं उस समय अपने को विशेष रूप से दुःखी कैसे समझ लेता। मैं उनका पुत्र था, पर अन्य लोग उनकी स्मृति पर मुझ से बढ़ कर दावा कर रहे थे। अनुभव होता था कि सारी दुनिया मेरे साथ समवेदना प्रकट करना चाह रही है—और मेरी अपेक्षा भी मुझ से अधिक वेदना प्रकट करना चाहती है। इस कारण मैं संवेदना का पूरा अनुभव नहीं कर सका, और न उसे प्रकट ही कर सका।

इस सहानुभूति की भावना के साथ एक और चीज भी मिल गई। स्वभावतः मुझे अनुभव हुआ कि यह बड़ा भारी

बलिदान था। जैसी कहानियाँ और घटनाएँ इतिहास में पढ़ते आये थे, यह तो वैसी ही हो गई। मेरे पिताजी शहीद हो गये, वे अमर पदवी को प्राप्त हो गये, इस विचार ने मेरे दिल को भर दिया। इसे मनोविज्ञान के पंडित किस दृष्टि से देखेंगे, शायद वे मेरी भावना को क्षुद्र ही समझेंगे, यह सम्भावना होते हुए भी यह स्वीकार कर लेने में मुझे संकोच नहीं कि इस विचार ने मेरे हृदय में अभिमान मिश्रित संतोष की बाढ़ सी ला दी। परिणाम यह हुआ कि जब तक वह दिल्ली के इतिहास में स्मरणीय अर्थी का जलूस निगमबोध घाट पर पहुंच कर, दाहक्रिया कर के वापिस नहीं आ गया। तब तक मैं बिल्कुल स्थिर रहा। शायद मुझ से मिलने वाले मेरी उस स्थिरता से आश्चर्यित होते होंगे। या तो उसे वे मेरी दृढ़ता का प्रमाण मानते होंगे अथवा हृदयहीनता का। वस्तुतः दोनों ही बातें नहीं थीं। वह स्थिरता उन परिस्थितियों का परिणाम थी, जिनका मैंने ऊपर वर्णन किया है।

मैंने स्वयं इस बात को तब अनुभव किया, जब यमुना के तट से लौटकर और सहानुभूति प्रकट करने वाले मित्रों से अवकाश पाकर मैं अकेला अपने लिखने के कमरे में पहुँचा। कमरे में मेरी बैठने की कुर्सी के ऊपर पिताजी का बड़ा चित्र था (अब वह मेरी कुर्सी के सामने रखा हुआ है) और मैं था। उस समय एक-दम मैंने अनुभव किया कि मैं अकेला रह गया।

मेरे बड़े भाई पहले ही विलायत जा कर लापता हो चुके थे, पिताजी चले गये—और अब इस तूफानी दुनिया में—आकाश और पृथ्वी के बीच में—मैं अकेला लटकता रह गया, मन में यह भाव आते ही मेरा वह कृत्रिम धर्म और स्थिर भाव जाता रहा और आँसू मानों बाँध को तोड़ कर बह निकले। मैं बहुत देर तक, और आवाज के साथ रोया—यह मुझे भली प्रकार याद है।

श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति द्वारा लिखित पुस्तकें

उपलब्ध पुस्तकों का सूचीपत्र

१. भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय और अस्त पहला भाग ७)

२. मुग़लसाम्राज्य का क्षय और उस के कारण, चारों भाग ६॥)

३. आर्य-समाज का इतिहास, पहला भाग ६)

४. मेरे पिता (श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी सम्बन्धी संस्मरण) ४)

५. महर्षि दयानन्द २) ६. सम्राट् रघु १।)

७. हमारे कर्मयोगी राष्ट्रपति ॥)

८. ईशोपनिषद्भाष्य ३)

९. भारत में वक्तृत्वकला की प्रगति १।)

१०. स्वराज्य और चरित्र-निर्माण १।)

११. जीवन संग्राम १।) १२. सरला की भाभी २)

१३. स्वतन्त्र भारत की रूपरेखा १॥)

१४. सरला ३॥) १५. आत्म-बलिदान ३।)

१६. अपराधी कौन ? ५) १७. जमींदार २)

१८. शाह आलम की आँखें ३॥)

१९. दिल्ली के वे स्मरणीय २० दिन ॥)

२०. मैं चिकित्सा के चक्रव्यूह से कैसे निकला ॥)

२१. मेरे नौकरशाही जेल के अनुभव ।)

प्राप्ति स्थान : वाचस्पति पुस्तक भण्डार,
जवाहर नगर, दिल्ली ।